जुलाई - दिसंबर २००५

कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका

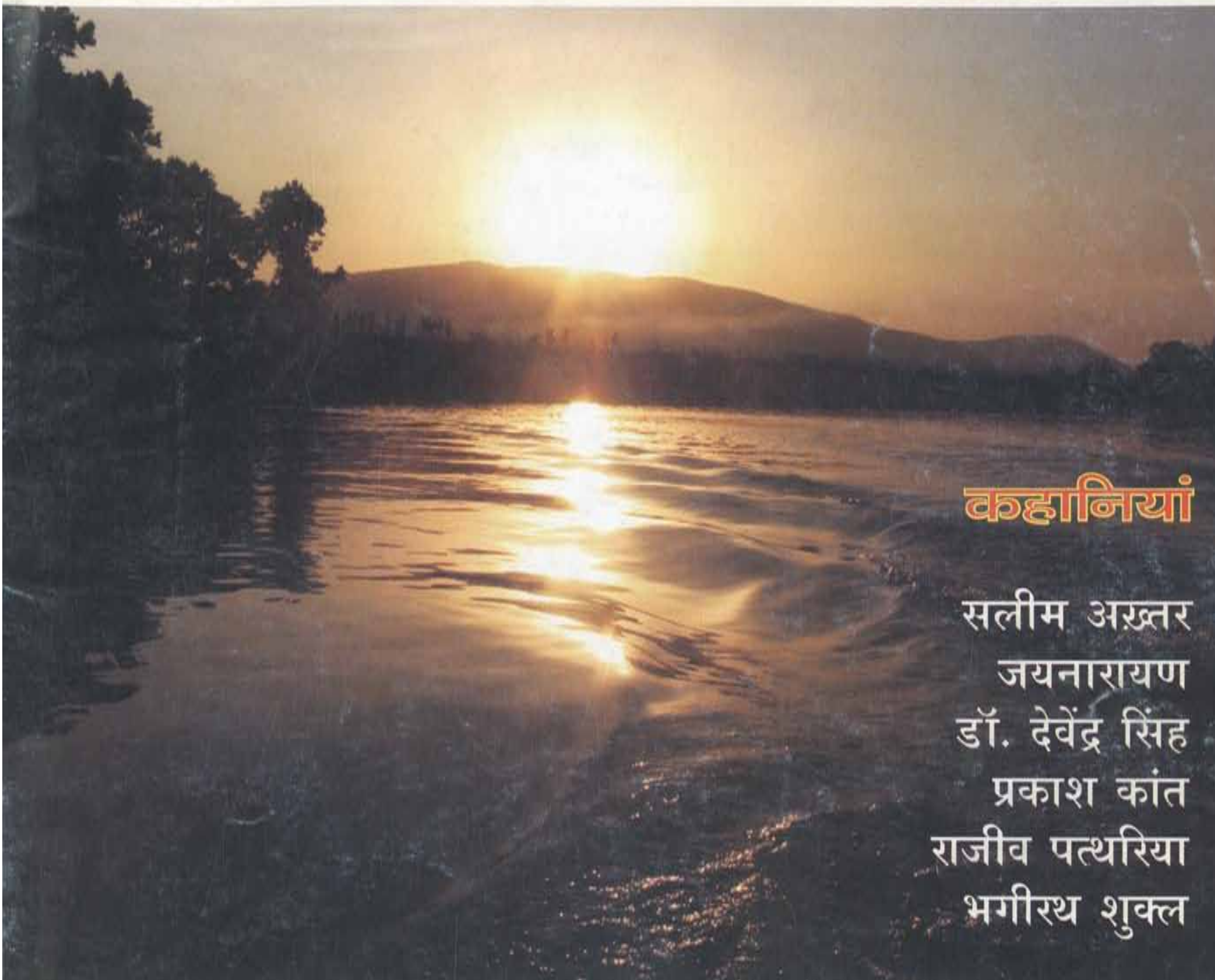

कहानियां

सलीम अख़्तर
जयनारायण
डॉ. देवेंद्र सिंह
प्रकाश कांत
राजीव पत्थरिया
भगीरथ शुक्ल

सागर-सीपी
भोला पंडित 'प्रणयी

आमने-सामने
डॉ. सतीश दुबे

१५ रुपये

आपके अपने घर के लिए
पहला कदम
देना
निवास
आवासीय वित्त योजना
देना बैंक
DENA BANK
(भारत सरकार का एक उद्यम)
विश्वस्त पारिवारिक बैंक

जुलाई – दिसंबर २००५
(संयुक्तांक)
(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक
डॉ. माधव सक्सेना 'अरविंद'

संपादिका
मंजुश्री

संपादन सहयोग
प्रबोध कुमार गोविल
देवमणि पांडेय
जय प्रकाश त्रिपाठी
हम्माद अहमद खान

संपादन-संचालन पूर्णतः
अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●
आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.
वार्षिक : ५० रु.
(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)
विदेश में (समुद्री डाक से)
वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड

*कृपया सदस्यता शुल्क चैक (कमीशन जोड़कर), मनीऑर्डर, डिमान्ड ड्राफ्ट, पोस्टल ऑर्डर द्वारा केवल '**कथाबिंब**' के नाम ही भेजें.*

● रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ●
ए-१० 'बसेरा,'
ऑफ दिन-क्वारी रोड,
देवनार, मुंबई - ४०० ०८८
फोन : २५५१९५८१
e-mail : kathabimb@yahoo.com

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक
अरुण सक्सेना
फोन : २३६८ ३७७५

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.
कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु १५ रु. के डाक टिकट भेजें.
(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

|| ५ || औरत कोई सराय नहीं / **सलीम अख़्तर**
|| १० || आज की पांचाली / **जयनारायण**
|| २४ || साधु और बिच्छू की कथा / **डॉ. देवेंद्र सिंह**
|| २९ || इतने पर भी / **डॉ. प्रकाश कांत**
|| ३४ || मरब्बे / **राजीव पत्थरिया**
|| ३९ || और बांध टूट गया / **भगीरथ शुक्ल**

लघुकथाएं

|| २१ || बेटी / **नरेंद्र आहूजा 'विवेक'**
|| ४९ || दहशत / **डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम'**
|| ५३ || समझौता / **डॉ. योगेंद्रनाथ शुक्ल**

कविताएं / गीत / ग़ज़लें

|| ९ || इत्ता-सा भी प्यार नहीं / **अमित जांगड़ा**
|| २६ || टीवी वाली औरत / **विमल पांडेय**
|| ३३ || ग़ज़ल / **देवेंद्र पाठक 'महरूम'**
|| ३६ || ग़ज़ल / **राजेंद्र वर्मा**
|| ३८ || दो ग़ज़लें / **देवमणि पांडेय**
|| ४७ || गीत, मुखौटा, ग़ज़ल / **प्रणयी**
|| ५९ || सपना ख़ुश आदमी का, नहीं देखा समुद्र / **'राजन'**
|| ५९ || विधि की विडंबना / **श्रीमती प्रतिभा पुरोहित**
|| ६० || ग़ज़लें / **वेद हिमांशु, राजेंद्र वर्मा, भगवानदास जैन**

स्तंभ

|| २ || लेटरबॉक्स
|| ४ || 'कुछ कही, कुछ अनकही'
|| ४४ || आमने-सामने / **भोला पंडित 'प्रणयी'**
|| ५० || सागर-सीपी / **डॉ. सतीश दुबे**
|| ५४ || वातायन / **गजेंद्र यथार्थ**
|| ५५ || पुस्तक-समीक्षाएं

आवरण फोटो : *नमित सक्सेना*

लेटर बॉक्स

❋ "कथाबिंब" को जिस लगन और निष्ठा से आप लोग निरंतर प्रकाशित कर रहे हैं, वह उल्लेखनीय है. इसके चलते इस पत्रिका की अपनी अलग-सी पहचान बन चुकी है. आवरण और मुद्रित सामग्री की प्रस्तुति के साथ सामग्री के चयन में जो संपादकीय कौशल का परिचय मिलता है वह भी क़ाबिले तारीफ़ है. पिछले अंक में पवन शर्मा के 'चेहरे' कहानी ने विशेष प्रभाव छोड़ा, लघुकथाओं के तो कहने क्या. युवा कवि राहुल झा की कविता में एक गर्माहट महसूस हुई. यह कवि अपनी पहचान बनाने में कामयाब होगा, यही कहा जा सकता है. पत्रिका के स्तंभों में दी गयी सामग्री हमेशा की तरह स्तरीय है. इधर समकालीन कविता में अनेक युवा कवि उभरे हैं, उनकी परफॉर्मेन्स को लेकर "समकालीन युवा कविता" जैसा कोई स्तंभ भी जारी करें और "समकालीन युवा कहानी" जैसा भी, तो एक रोचक विमर्श की शुरुआत हो सकती है. क्योंकि मेरा मानना है कि अपने समय के युवा लेखक पर चर्चा-परिचर्चा करना बहुत ज़रूरी है, ये नये लेखक ही देश के भविष्य हैं. उन्हें कुंठित होने से आप जैसे महानुभाव ही बचाने में मदद कर सकते हैं. उन्हें बेहतर रचने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हो सकता है, मैं तो "शताब्दी के अंत की कविता" का कवि हूं और इस पीढ़ी को बारीकी से समझने की कोशिश करता रहता हूं.

✣ श्रीरंग

१०९/१२, EWS, कबीर मंदिर रोड, इलाहाबाद २११ ०१४.

❋ "कथाबिंब" को आद्योपांत पढ़ गया. वही रूप-स्वरूप, लगातार. बधाई. डॉ. निरुपमा राय की कहानी बहुत अच्छी लगी. संवेदना का एक टुकड़ा - जीवंत हो गयी है कथा. 'ताले वाली डायरी' - डायरीनुमा होकर भी पठनीय है. 'चेहरे' मानवीय त्रासदी को उकेरती है. 'स्वेटर,' 'बिके हुए हाथ,' 'आतंकवादी' कहानियां भी पठनीय हैं.

श्री प्रमोदकुमार तिवारी से श्रीमती मधु प्रकाश की बातचीत काफ़ी ज्ञानवर्धक है.

✣ कलाधर

संपादक 'कला', नया टोला, लाइन बाज़ार, पूर्णियां-८५४ ३०१.

❋ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ का अंक मिला. आपने मेरी लघुकथा 'अस्वीकार ' को प्रकाशित किया है उसके लिए हृदय से आभार.

इस लघुकथा पर अनेक प्रशंसा पत्र प्राप्त हुए हैं. इससे पत्रिका की लोकप्रियता और विस्तृत पाठक वर्ग तक इसकी पहुंच का एहसास होता है. पत्रिका का स्तरीय होना भी एक बड़ा कारक है.

✣ कालीचरण 'प्रेमी'

ए-१०६, बाग कॉलोनी, शास्त्रीनगर, गाज़ियाबाद-२०१ ००२.

❋ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ का अंक मिला. बड़ी पाबंदी से और नियमित अंक निकालने के लिए बधाई. संपादकीय में व्यक्त आपकी चिंता वाजिब है. अमेरिका की बेशर्म दादागिरी की जितनी भी भर्त्सना की जाये कम है.

संपादित रचनाओं का चयन अच्छा है. कहानियों में 'आतंकवादी,' 'मौत की छलांग' और 'ताले वाली डायरी' विशेषकर अच्छी लगीं. अख़बारी रिपोर्टों और किताबों में पढ़कर अच्छी रचना लिखना जोखिम भरा काम है. अक्सर अख़बारी रपटें बड़ी मर्मस्पर्शी होती हैं. 'बिके हुए हाथ' एक बहुत बड़ी त्रासदी और ज़िल्लतभरी ज़िंदगी जी रहे महाजिरों के दर्द को समेटने में नाकाम लगी. उर्दू में इस विषय पर बहुत अच्छी कहानियां आ चुकी हैं, जो पढ़ने में मौलिक और प्रमाणिक लगती हैं. एक मुस्लिम मल्लाह की रोज़ी-रोटी 'गंगा' से चल रही है, पुश्त-दर-पुश्त. गंगा के प्रति उसकी गहरी आस्था स्वाभाविक है. पर मरते वक़्त 'गंगा मैय्या' की जय का नारा अस्वाभाविक लगता है. बहरहाल, रचनाकार की नीयत को समझा जा सकता है .

इसी अंक में उक्त कहानी के लेखक डॉ. रोहित श्याम चतुर्वेदी 'शलभ' का एक पत्र भी अपने बॉक्स में छापा है. राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय जांच रपटों, मीडिया की चश्मदीद रिपोर्टों, वीडियो फिल्मों और सर्वोच्च न्यायालय की शर्मनाक टिप्पणियों की तरफ़ आंख मूंदकर महाशय ने अपने नायक 'नरेंद्र भाई' का क़सीदा पढ़ते हुए अपने विरोधियों को धमकी भी दे डाली. इस घटिया और निराधार पत्र को बॉक्स में छापने का आशय समझ में नहीं आया. इस पर आपकी कोई टिप्पणी न पाकर हैरत हुई. इस पत्र और कहानी ने बहुत निराश किया. तो क्या अब साहित्य जगत में भी 'घुस-पैठ' शुरू होगी ! चिंता का विषय है.

इस अंक का 'कवर' बहुत शोख़ और चटख़ है !

✣ बादशाह हुसैन रिज़वी

मुहल्ला बख़्तियार, भरपुरवा, गोरखपुर-२७३ ००१.

❋ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ का अंक प्राप्त हुआ. कथा, कविता सभी आलेखों से भरपूर यह अंक पूर्व के अंकों की तरह ही पठनीय लगा. पत्रिका किसी दल विशेष की नहीं सार्वजनिक होती है. भले कोई दल आपसे कुछ भी कहे, पर आप समग्र भारतवर्ष को लक्ष्य में रखकर ही अब तक की तरह संपादकीय लिखते रहेंगे. मैं किसी का नाम तो नहीं लेना चाहता, पर कुछ लोग आपके संपादकीय को गुमराह करना चाहते हैं लेकिन मुझे विश्वास है कि, आप आत्मज्ञान से समय को पहचानते हुए, निर्भीक होकर किसी व्यक्ति विशेष या दल को लक्ष्य में न रखकर लिखते रहेंगे.

✣ डॉ. सूर्यदीन यादव

३, पुनीत कॉलोनी, पवनचक्की रोड, नडियाड-३८७ ००२.

❀ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ का अंक मिला. प्रकाशित रचनाओं में समय की विवशता और कहन की धार है. "कथाबिंब" लफ़्फ़ाज़ी के इंद्रजाल से सदैव बचती रही है और पठनीयता को जीवित रखा है. मनोज सिन्हा की कहानी और आदरणीय विजय की लघुकथाओं में समकालीन यथार्थ तो है लेकिन ख़ास बात यह है कि उनमें सौंदर्य की खोज भी है. यह खोज उन्हें यथार्थवादी बनाने के साथ-साथ समाज से जुड़े रहने का संकेत देती है. मेज़ पर मदिरा का ग्लास रखकर समाज की बातें कहने वाले "हंस" के संपादक राजेंद्र यादव से बेहतर समाज चिंतक ये दोनों रचनाकार तो हैं ही. मेरी बधाई.

✤ अनिरुद्ध सिन्हा

गुलज़ार पोखर, मुंगेर (बिहार) ८११ २०१.

❀ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ अंक पाकर प्रसन्नता हुई. आभार. आपका प्रभावी चिंतन और प्रखर संपादन पत्रिका की जान है और विशिष्ट पहचान भी है.

प्रस्तुत अंक में 'ताले वाली डायरी,' 'बिके हुए हाथ' तथा 'मौत की छलांग' कहानियां बेहतरीन बुनावट के कारण विशेष अच्छी लगीं. लघुकथाओं में युगेश शर्मा सफल रहे हैं. 'सागर -सीपी' में प्रमोद कुमार तिवारी का इंटरव्यू अच्छा लगा.

भाई, एक बात कहूं. इस बार नसीम अख़्तर के अलावा ग़ज़लें बेहद कमज़ोर हैं. कविताएं, ग़ज़लों पर भारी पड़ती हैं. 'शेष सृजन के संकलित क्षण' - रचनाकार की अंतर्व्यथा कम उपलब्धियों की कथा ज़्यादा लगती है.

✤ राजेंद्र तिवारी

'तपोवन,' ३८-बी, गोविंद नगर, कानपुर-२०८ ००८.

❀ "कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ अंक पठनीय कहानियों से भरा है. लेकिन डॉ. निरुपमा राय की कहानी 'ताले वाली डायरी' पठनीय ही नहीं प्रभावपूर्ण भी है. इसमें जीवन का चित्रण ही नहीं, जीने की कला का दर्शन भी है. मानवीय जिजीविषा और संवेदना की यह मार्मिक और भावप्रवण कहानी हताश और दुखी जीवन के लिए संदेशगामी और प्रेरक है. इसकी कथन शैली सहज और सादी होने के बावजूद इसमें शिल्पगत विशिष्टता भी है, जिसे पत्र और डायरी दोनों प्रकार की कथा-प्रविधियों के समावेश के रूप में देखा जा सकता है.

इसी अंक में संवाद शैली की विशिष्टता के साथ जीवतराम सेतपाल की कहानी 'आतंकवादी' है जो रोचक तो बहुत है लेकिन आख़िर में कहानीकार की जल्दबाज़ी का शिकार हो गयी है. इसके पूर्वार्द्ध में इंस्पेक्टर और कथानायक के संवाद हैं जिनसे घटना की जानकारी होती है, पुलसिया रवैये के आतंक का अहसास होता है और कथानायक की निरीहता और मानसिक द्वंद्व का साक्षात्कार होता है. इसके उत्तरार्ध में कथानायक और उसकी पत्नी के संवाद हैं जो इस हाय-तौबा में भी कहीं-कहीं विनोदपूर्ण और मनोरंजक बन पड़े हैं. इन संवादों से घटना का और खुलासा होता है. कथानायक की पत्नी को पूरा भरोसा है कि उसकी सहेली का वकील पति मुफ़्त में केस लड़कर उसे बचा लेगा. लेकिन वकील से उसे जवाब मिलता है कि वह हारने वाला केस नहीं लेता. कुछ दिन बाद कथानायक को सज़ा हो जाती है और इंस्पेक्टर पुरस्कृत होता है. कथानायक और उसकी पत्नी के संवादों के तुरंत बाद चंद पंक्तियों में कहानी को समेट लिया गया है, यह लघुकथा के अंदाज़ में कहानी पूर्ण कर लेने की उतावली प्रतीत होता है. कहानी के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से उत्तम होता कि कहानीकार, वकील और कथानायक की पत्नी के बीच भी लंबा संवाद चलाता. फिर उसके बाद कथानायक और इंस्पेक्टर का संवाद होता और उसके कारण पैदा तनाव से कथानायक को ब्रेन हैमरेज या हृदयाघात जैसा कुछ होता और उसके बाद पाठक जिस सन्नाटे को महसूस करता वही कहानी का समुचित अंत और पूर्णता होती. उस स्थिति में यह कहानी संवाद शैली की न सिर्फ़ एक उत्तम कहानी होती बल्कि यह नाट्य मंचन की दृष्टि से भी अत्यंत सफल होती. वैसे देखा जाये तो यह कहानी संवाद की रोचकता के कारण ही पठनीय है. नहीं तो, यह अपूर्ण के साथ-साथ कहीं-कहीं अतार्किक और गढ़ी हुई लगती है.

✤ केशव शरण

एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी २२१ ००२

❀ 'कथाबिंब' अप्रैल-जून ०५ में प्रकाशित डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी 'शलभ' का पत्र प्रचारात्मक एवं भ्रामक था. गुजरात के निवासी होते हुए भी उन्हें वस्तु-स्थिति का पूरा ज्ञान नहीं है. गुजरात देश का विकसित राज्य है, जो नरेंद्र भाई मोदी के बिना भी तरक़्क़ी के सोपान चढ़ता. नरेंद्र मोदी ने कई मामलों में राज्य को पीछे धकेल दिया और अपने कार्य-कलापों से विनिमेश वालों को भ्रमित किया.

'राजीव गांधी फॉउंडेशन' की रिपोर्ट पर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर संस्था में पक्षधर लोग छिपे बैठे होते हैं. डॉक्टर साहब का यह प्रौपेगंडा ही है कि नरेंद्र भाई गुजरातियों (मुसलमानों सहित) के विकास एवं संरक्षण का कार्य बड़ी मुस्तैदी व कुशलता से कर रहे हैं. स्थिति इससे उलट है. मुसलमानों का उन्होंने भक्षण किया तथा अपराधियों एवं असामाजिक तत्वों को संरक्षण दिया और दे रहे हैं. तभी तो सुप्रीम कोर्ट ने भी उन्हें लताड़ा. पूरे विश्व में नरेंद्र भाई की थू-थू हुई, भाजपा को केंद्रीय सत्ता से हाथ धोना पड़ा. ब्रिटेन में तो उनकी गिरफ़्तारी का पूरा सरअंजाम था. मगर ऐन वक़्त पर मनमोहन सिंह ने उन्हें (कहना चाहिए - भारत सरकार को), अपूर्व संकट से बचा लिया. गुजरात में मुसलमान आज भी भयभीत हैं. मेरी दृष्टि में नरेंद्र भाई गुजरात के कलंक हैं. वे हिंदू गौरव का इस्तेमाल सिर्फ़ अपनी सत्ता और हिटलरी शासन के लिए कर रहे हैं लेकिन कब तक ?

✤ हसन जमाल

सं. शेष, पन्ना निवास के पास, लोहारपुरा, जोधपुर-३४२ ००२.

(...कुछ और प्रतिक्रियाओं के लिए कृपया पृष्ठ ६१ देखें)

कुछ कही, कुछ अनकही

यह अंक संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है ताकि काफ़ी समय से चले आ रहे प्रकाशन विलंब को ख़तम किया जा सके. वैसे देखा जाये तो पिछले वर्ष 'कथाबिंब' के अकों का नियमित प्रकाशन होता रहा. पूरे साल में ढाई-ढाई महीनों के अंतर से चार अंक प्रकाशित हुए थे. क्योंकि यह वर्ष २००५ का अंतिम अंक है इसलिए 'कथाबिंब वार्षिक पुरस्कार-२००५' के लिए, पृष्ठ ६४ पर, वर्ष भर में प्रकाशित कहानियों का क्रम भेजने का अभिमत-पत्र दिया जा रहा है. यह विचार किया गया कि जब आठ कहानियां पुरस्कृत होती हैं तो - प्रथम, द्वितीय, तृतीय न कहकर पुरस्कारों को 'सर्वश्रेष्ठ', 'श्रेष्ठ' और 'उत्तम' कहना ज़्यादा समीचीन होगा. पाठकों से आग्रह है कि इस वार्षिक आयोजन में अधिक से अधिक संख्या में भाग लें.

●

इस अंक में छः कहानियां जा रही हैं. सलीम अख़्तर की कहानी का शीर्षक ख़ुद अपनी बात का पूरा ख़ुलासा करता है. भाई जयनारायण की कहानी 'आज की पांचाली' बहुत शिद्दत के साथ रोज़ी-रोटी के लिए गांवों से लोगों के पलायन की समस्या को सामने लाती है. डॉ. देवेंद्र सिंह की कहानी 'साधु और बिच्छू की कथा' वही पुरानी कथा है जिसमें एक साधु बिच्छू को बार-बार पानी से बाहर निकालकर किनारे ले आता है लेकिन बिच्छू डंक मारने की अपनी प्रवृत्ति से बाज नहीं आता. अंधेरा घिर जाने के बाद एक मुस्लिम महिला के लिए बस में, अकेले सफ़र करना निरापद नहीं हो सकता यह बात 'इतने पर भी !' (डॉ. प्रकाश कांत) कहानी उजागर करती है - पर आज जैसे हालात हैं उन्हीं स्थितियों में, उतना ही ख़तरा शायद हिंदू महिला के लिए भी कहीं भी उपस्थित हो सकता है. 'मरब्बे', बांध बनने के कारण विस्थापित हुए लोगों की कहानी है जिन्हें लाख क़ोशिशों के बाद भी मुआवज़े में मरब्बों से कोई फ़ायदा नहीं होता. वरिष्ठ लेखक भगीरथ शुक्ल की कहानी 'और बांध टूट गया' एक ऐसी महिला की कहानी है जिसके साथ पति की फैक्ट्री में काम करने वाले बदला लेने के लिए मुंह काला करते हैं. इस कारण से वह पति के सामने नहीं जाना चाहती. लेकिन अंततः वह अपने आपको रोक नहीं पाती.

●

अब कुछ राजनीतिक घटनाक्रम के बारे में. बिहार में आख़िर लालू राज्य का अंत हो ही गया. फरवरी में राज्यपाल द्वारा विधान सभा भंग करने के अपने अंतरिम निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने इसे असंवैधानिक करार दिया है. लेकिन बिहार की जनता ने नितीश कुमार के पक्ष में अपना फ़ैसला सुना दिया. इस बार राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) को पहले की अपेक्षा डेढ़ गुना सीटें मिलीं. कुल २४४ में १४५ सीटें. स्पष्ट बहुमत मिलने के कारण कम से कम रोज़ जोड़-तोड़ तो नहीं करना पड़ेगा. निष्पक्ष चुनाव कराने में चुनाव आयोग की भूमिका को भी सराहा जाना चाहिए. ख़ासतौर से पर्यवेक्षक श्री के. जे. राव की, जिनकी सतर्कता के कारण इस बार बूथ कैप्चरिंग, फ़र्ज़ी वोट डालने जैसी चुनावी गड़बड़ियां नियंत्रण में रहीं.

दरअसल, १२० वर्ष पुरानी कॉन्ग्रेस पार्टी को अभी गठबंधन की राजनीति की आदत नहीं है, न ही कोई समझ. झारखंड में किस दल के साथ जाना है यह अंत तक तय नहीं हो पाया. बिहार में लालू के साथ जाकर हाथ जलाये. पश्चिमी बंगाल में विपक्ष में हैं लेकिन केंद्र में आये दिन की धमकियों के बावजूद भी वामपंथियों का बाहरी समर्थन लिया हुआ है. समाजवादी पार्टी भी बिन मांगे केंद्र में कॉन्ग्रेस को बाहर से समर्थन दे रही है तो बदले में कॉन्ग्रेस भी उत्तर प्रदेश में सरकार की बैसाखी बनी हुई है लेकिन छोटे-बड़े कॉन्ग्रेस नेता रोज़ कहते नहीं थकते हैं कि उत्तर प्रदेश की न्याय और कानून व्यवस्था समाप्त हो गयी है. तो फिर आप समर्थन वापस क्यों नहीं लेते ! हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के लिए और.

महाराष्ट्र की गिनती देश के अच्छे राज्यों में की जाती थी, लेकिन आज यहां भी बिजली का बुरा हाल है. ग्रामीण इलाकों की बात तो छोड़िए मुंबई से थोड़ा बाहर के उपनगरों में दो से बारह घंटों की कटौती रोज़ होती है. इसके चलते कई उद्योग-धंधे पड़ोसी राज्य गुजरात में चले गये हैं. फ़सल नष्ट हो जाने के कारण कर्ज़ की किश्त न चुका देने के कारण कृषक आत्महत्या करने पर मजबूर हैं. ताज़ा आंकड़ों के अनुसार जुलाई से दिसंबर ०५ तक १६५ आत्महत्याएं हुई. कुछ दिन पूर्व विदर्भ के ग्रामवासियों ने राष्ट्रपति को लिखा है कि अपने गांव को गिरवीं रखने या बेचने को तैयार हैं. अमरावती जिले के शिंगनापुर के लोगों ने इच्छा व्यक्त की है कि वे अपने गांव में एक 'गुर्दा बिक्री केंद्र' खोलना चाहते हैं और उदघाटन के लिए उन्होंने राष्ट्रपति और केंद्रीय कृषि मंत्री श्री शरद पवार को आमंत्रित किया है. आख़िर 'आम आदमी' कितना इंतज़ार करेगा. शायद ऐसी ही स्थितियां नक्सलवाद को बढ़ावा देती हैं.

ज़मीनी सच्चाई को न समझने के कारण कॉन्ग्रेस के हाथ से आज एक-एक राज्य निकलता जा रहा है. अगली बारी अब कर्नाटक की है. यहां, पिछले चुनावों में भाजपा सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर आयी थी, लेकिन जनादेश को दरकिनार करते हुए ज़बर्दस्ती कॉन्ग्रेस सत्ता पर काबिज़ हो बैठी किंतु यहां भी जब गठबंधन संभल नहीं पाया तो राज्यपाल के माध्यम से हस्तक्षेप की आवश्कता आन पड़ी. राज्यपाल श्री चतुर्वेदी ने नये गठबंधन को बहुमत सिद्ध करने के लिए एक सप्ताह का समय दिया है.

(कृपया शेष भाग पृष्ठ ६३ पर देखें)

कहानी

औरत कोई सराय नहीं

सलीम अख़्तर

क़स्बा प्रमुख मार्ग से ज़रा हटकर था. पहाड़ की ओर आनेवालों के कारण यहां आवागमन बराबर रहता था. आस-पास के १०-२० गांव और शहर जाने वाले साधनों के बीच का संबंध यही क़स्बा जोड़ता था. इसी कारण इसकी उपयोगिता अधिक महत्व रखती थी. क़स्बे में ज़रूरत की हर चीज़ मिला करती थी. क़स्बे में प्रवेश का मुख्य मार्ग गिट्टी और मुरूम डाल कर बनाया गया था. यही मार्ग आगे जाकर घने जंगल से होता हुआ पहाड़ तक चला गया था. यही आवागमन का एकमात्र रास्ता था, और हर प्रकार के वाहनों के कारण व्यस्त भी रहता था. इसीलिए गांव वाले इसे हाई-वे कहने लगे थे. क़स्बे में दाख़िल होते ही चौक नज़र आता था. साप्ताहिक बाज़ार और बस स्टैंड की आवश्यकता यही पूरी करता था. आवश्यकतानुसार किराना, कपड़ा, अनाज आदि ज़रूरी चीज़ों की दुकानें इसे घेरे हुए थीं. चाय-पान के ठेले भी इनके बीच अपनी उपस्थिति दर्ज करवाये हुए थे. दुकानों से घिरे होने के कारण ही इसका नाम चौक हो गया था. इन सबसे हटकर अनायास जहां नज़र ठहर जाती थी, वह एक पुरानी सी इमारत थी, जिसके सामने एक मंडप सा बना हुआ था. व्यवस्थित रखी हुई टेबल-कुर्सियां उसे होटल का रूप दिये हुए थीं. कोने में एक बड़ी सी भट्टी में लकड़ी के लट्ठे आग को बढ़ा रहे थे. भट्टी के ऊपर ही एक तरफ वह औरत पालथी मारे बैठी थी. यही कारण था कि नज़र अनायास वहां ठहर जाती थी.

शन्नो की हट्टी के नाम से पहचाने जाने वाली इमारत क़स्बे का एकमात्र होटल था. होटल के साथ-साथ यह भोजनालय और सराय की आवश्यकता को भी पूरी करती थी. शन्नो के बाप ने इसे किस उद्देश्य से बनाया था यह तो उसे नहीं मालूम, परंतु उसने जब से होश संभाला अपने बाप को इसी होटल की व्यवस्था में पाया. मां का चेहरा तो धुंधला सा उसकी यादों में था. समय के साथ-साथ शन्नो भी उसी व्यवस्था का अंग बन गयी. अपने बाप के कांधे से कांधा मिलाकर उसने बेटे की कमी पूरी कर दी. समय का चक्र बिना थके चलता ही रहता है. लोग अपनी ऊर्जा समेटे उसके साथ-साथ भागते रहते हैं. इस भाग-दौड़ में नये मुकाम आते हैं. नये साथी मिलते हैं. सुख-दुख छाया की तरह आगे-पीछे चलते रहते हैं. नये संबंध बनते हैं. पुरानी गाठें खुलती हैं. इस भाग-दौड़ में कुछ पाते हैं तो बहुत कुछ छूट भी जाता है. शन्नो के साथ भी यही सब होता रहा. एक दिन अचानक उस होटल का भार उसके कांधों पर आ पड़ा.

जंगल के ठेकेदारों, ट्रक ड्राइवरों, पिकनिक के लिए जंगल की ओर जाने वाली मनचलों के साथ ही, दारू के नशे में धुत मज़दूरों आदि से एक साथ भुगतते हुए वह मज़बूत हो गयी थी. अब उसे यह कोई परेशानी या बखेड़े वाला काम नहीं मालूम होता था. शरू-शुरू में वह ज़रूर घबरायी. कई बार तो उसने सोचा भी इस जंगल से निकलकर कहीं और ठिकाना बना ले. लेकिन वह जाती भी तो कहां ? न तो उसका कोई सगा, संबंधी और न कोई हमदर्द ही था. इस होटल के धंधे के अलावा उसे आता ही क्या था. हार कर उसने ख़ुद को नियति के हाथों सौंप दिया.

मर्दों की बनायी इस दुनिया में उसने ख़ुद को उन्हीं के तौर-तरीक़ों में ढाल लिया. समय के साथ उसके रहन-सहन, रख-रखाव व बोल-चाल के अंदाज़ में बदलाव आता चला गया. नारी सुलभ कोमलता की जगह उसके स्वभाव में अक्खड़ता आ गयी.

बात-बात में गाली देना और ग्राहकों से हंसी-मज़ाक़ कर लेने में उसे कोई झिझक नहीं होती थी. व्यवस्था में हाथ बंटाने के लिए एक नौकर भी था. दोनों मुंह-अंधेरे काम पर जुट जाते थे और रात गये आख़िरी ग्राहक के जाने के बाद ही सांस लेते थे. सराय में ठहरने वालों की संख्या हमेशा नगण्य ही होती थी. इस ओर आने-जाने वाले अधिकांश लोग अपने ख़ुद के ही वाहनों से आते-जाते थे. कभी कभार किसी की गाड़ी ख़राब हो जाये या फिर नींद और नशे की अधिकता के कारण कोई रुक जाता था. वह भी एक रात के लिए बस... सीजन में इस मार्ग पर आवागमन बढ़ जाता था. गर्मी के दिनों में पिकनिक के शौक़ीन, जंगल के ठेकेदार और ऐसे ही दूसरे अन्य कामों से आने-जाने वालों के कारण क़स्बे की रौनक़ बढ़ जाया करती थी. शाम होते ही सराय के कमरे भरने शुरू हो जाते थे. इन्हीं दिनों उसकी व्यस्तता और दिनों की अपेक्षा अधिक हो जाती थी. कमरों की साफ़-सफ़ाई के साथ उसकी दिनचर्या शुरू होती थी. साफ़-सफ़ाई करते हुए उसके हाथों के साथ उसकी ज़ुबान भी चलती थी. ...'साले..दारू पी कर मरने के लिए ये ही जगह मिलती है. अपनी अम्मा के गोद में क्यों नहीं करते उल्टी... अपने बाप का नौकर समझ रखा है कमीनों ने...' बीच-बीच में वह लड़के को भी आवाज़ लगा दिया करती थी, 'अबे....ओ....हराम के.. कहां मर गया..?

कचरा फेंकने गया तो वहीं का हो गया...ये.... साला हरामख़ोर मेरे पल्ले पड़ गया है. साला मेंहदी लगा कर चलता है.' इसी तरह की बातें रोज़ की दिनचर्या थी. उसने फिर आवाज़ लगायी, 'अबे चल..जल्दी हाथ चला...तेरे बाप लोग आने वाले हैं.' अक्सर कमरों की सफ़ाई में ख़ाली बोतलें, सिगरेट के टुकड़े, ताश के पत्तों का ढेर ऐसी चीज़ें बुहारनी होती थी. कभी-कभी कोई ग्राहक उल्टी कर बिस्तर की चादर ख़राब कर दिया करता था उस वक़्त उसका गुस्सा चरम पर हुआ करता था. यदि उल्टी करने वाला सामने पड़ जाता तो वह उसका गला ही दबा देती. साक्षात चंडी हो जाया करती थी. उसके इस रूप को देख उसका नौकर भी एक ओर हो जाने में ही अपनी भलाई समझता था. इस सफ़ाई अभियान में रोज़ ही उसका बहुत सा समय जाता था. इस सारे समय में उसके हाथ के साथ-साथ उसकी जुबान भी चलती रहती थी. इस बीच वह जितनी प्रकार की गालियों का निर्माण करती थी, उन्हें संकलित किया जाता तो एक बृहद गाली कोष तैयार हो जाता. इससे निपट कर वह होटल की व्यवस्था में जुट जाती. रात और दिन के निश्चित चक्र की तरह ही उसकी दिनचर्या भी निश्चित हो कर रह गयी थी.

शन्नो ने लड़के को आवाज़ लगायी, 'अबे...ओ....कहां मर गया सा..ला..एक चाय देने में एक घंटा लगाता है.' शन्नो की आवाज़ सुनकर लड़का दौड़ा-दौड़ा आता. फटाफट टेबल पर कपड़ा मारता, ख़ाली प्लेटें, गिलास उठाता. खाली गिलासों की जगह पानी से भरे गिलास रखता. ग्राहकों का मांगा गया सामान देता, घूमते-फिरते पैसों की आवाज़ें भी लगाता रहता. भट्टी के ऊपर बिछा टाट ही शन्नो का गल्ला था. वह ग्राहकों से पैसे लेकर बिछे हुए टाट के नीचे रखती रहती. 'अबे ...ओ...जाकर देख वह रंगवाला बाबू उठा या नहीं...शन्नो ने लड़के को आवाज़ लगा कर कहा, 'जा देख उठ गया हो तो उसे चाय दे दे.' रंगवाले बाबू का संबोधन शन्नो ने जिसके लिए किया था, वह पिछले आठ दिनों से उसकी सराय में ठहरा हुआ था. ऐसा पहली बार हुआ कि उसकी सराय में कोई इतने दिन रुका हो. हर सुबह भरपेट नाश्ता करके वह थर्मस में चाय लिये निकल जाया करता था. कांधे पर थैला, बगल में कैनवास और हाथ में स्टैंड लिये जब वह पहाड़ की ओर जाता था तो शन्नो उसे बराबर देखा करती थी. उसकी समझ में यह खटराग नहीं आता था. उसने कभी जानने की कोशिश भी नहीं की. लेकिन उसकी आंखों में उत्सुकता बराबर रहती थी. शाम का धुंधलका गहराते-गहराते ही वह लौटता था. पिछले आठ दिनों से उसका क्रिया-कलाप यही था. इन आठ दिनों में उसने शन्नो से दो-एक बार ही बात की थी. उस क्षेत्र का भूगोल जानने या फिर हिसाब-किताब की ग़रज़ से बस... शन्नो ने उसके कमरे की जब भी सफ़ाई करनी चाही उसने मना कर दिया. अपने कमरे की झाड़ बुहार वह ख़ुद ही कर लिया करता था. रात को अपने

२५ मई १९५०, गोंदिया (महाराष्ट्र);
शिक्षा : मैट्रिक

लेखन : *ग़ज़लकार, कवि एवं कहानीकार. अनेक पत्र-पत्रिकाओं में विगत २० वर्षों से रचनाओं का प्रकाशन एक ग़ज़ल संग्रह 'काली नदियां पीले लोग' प्रकाशित. काव्य संग्रह 'हर बार यही होता है' प्रेस में.*
पुरस्कार : *अंबिका प्रसाद दिव्य पुरस्कार-२००३ से पुरस्कृत.*
विशेष : *आकाशवाणी व दूरदर्शन से रचना पाठ प्रसारण, कवि सम्मेलन व मुशायरों में सतत रचना पाठ.*
संप्रति : *पेंटिंग, बतौर व्यवसाय.*

कमरे में जाते हुए शन्नो उत्सुकतावश अक़्सर उसके कमरे में झांकने से ख़ुद को नहीं रोक पाती थी. दिन में तो कमरा लगभग बंद ही रहा करता था. रात को प्रायः उसके कमरे की खिड़की खुली रहती थी. खिड़की से कमरे में झांकने की इच्छा शन्नो रोक नहीं पाती थी. इन्सानी फ़ितरत ही ऐसी है कि वह हर रहस्य की तह तक जाकर उसका हिस्सा बनना चाहती है. यही फ़ितरत उससे अपराध भी करवा लेती है. उसे इस पर पछतावा भी होता था. परंतु वह भी क्या करती ? आख़िर को वह भी तो इन कमज़ोर इन्सानी ग्रंथियों की भागीदार ही थी. जहां-तहां उसे कमरे में तस्वीरों के फ्रेम ही फैले हुए नज़र आते थे. किसी में पहाड़ तो किसी में नदी, नाले और जंगल के रंग-बिरंगे दृश्य थे. किसी तस्वीर में मज़दूर आराम करता हुआ नज़र आ रहा था, तो किसी में जंगल से लौटता हुआ मज़दूरों का झुंड था. कहीं आकाश में उड़ते हुए परिंदों का समूह था तो कहीं बड़े से पत्थर पर बैठी कोई नवयौवना किसी का इंतज़ार करती हुई नज़र आ रही थी. इन तस्वीरों के बीच उसने एक तस्वीर ऐसी थी जो उसे जानी पहचानी सी लगी. उसे वह तस्वीर उसकी हट्टी से मिलती जुलती सी लगी. भट्टी पर एक औरत बैठी हुई है जिसके तेवर, पहनावा बिल्कुल उसी से मिलता-जुलता था. इस तस्वीर को देखकर उसे अजीब सी अनुभूति हुई. वैसे किसी से दबना या किसी के आगे झुकना शन्नो के स्वभाव में नहीं था. उस मुसाफ़िर का कम बोलना ही उसके व्यक्तित्व में ऐसी बात पैदा करता था कि शन्नो जैसी दबंग और निडर भी

उससे सामना करने से झिझक जाती थी.

शन्नो ने लड़के को आवाज़ लगायी, 'अबे ओ... ज़रा जल्दी-जल्दी चला कर. न जाने कहां अटक जाता है.. सा..ला...' लड़के के पास आते ही बोली, 'जा कर देख वो रंगवाला उठा या नहीं'. लड़का बोला, 'उसका कमरा बंद है'. शन्नो मुंह ही मुंह कुछ बुदबुदाई और लड़के से बोली, 'जा जाकर देख टेबल पर पानी वग़ैरा है या नहीं. मरने दे साले को.... मेरे को क्या ? अकेली जान किस-किस को देखेगी... जिस साले को ग़रज़ होगी वह ख़ुद आकर मरेगा'. शन्नो की बुदबुदाहट स्पष्ट होती गयी. वह फिर अपने काम में लग गयी. लेकिन थोड़ी-थोड़ी देर में उसका ध्यान फिर रंगवाले बाबू की तरफ चला जाता था. शायद यह उस रंगवाले बाबू की दिनचर्या के कारण ही था. प्रायः हर सुबह वह पहाड़ की ओर निकल जाया करता था. आज इस विधान में अंतर आ गया था, यही कारण था कि उसका ध्यान बार-बार उस रंगवाले की ओर चला जाता था उसने अपने मन से इस ख़्याल को एक झटके में निकाल फैंका और अपने काम में लग गयी.

रोज़ की तरह होटल बंद करने के बाद अपने कमरे में जाते हुए उसके क़दम रंगवाले बाबू के कमरे के सामने ठिठक गये. उसे ध्यान आया कि आज तो रंगवाले बाबू ने न चाय पी और न ही खाना खाया. आज तो उसने उसे बाहर जाते हुए भी नहीं देखा. उसे आशंका होने लगी. उसने कुछ बेचैनी महसूस की. थोड़ी देर वह वहीं खड़ी कुछ सोचती रही. फिर उसने निर्णय ले लिया और कमरे के दरवाज़े पर हल्का सा दबाव डाला. दरवाज़ा खुलता चला गया. कमरे में अंधेरा था. उसने अंधेरे में आंखें फाड़-फाड़ कर देखने की कोशिश की. उसकी समझ में कुछ नहीं आया तो उसने कमरे में क़दम रख ही दिया. स्विच बोर्ड ढूंढ़ने में उसे कोई परेशानी नहीं हुई. बटन दबाते ही कमरे में मटमैली रोशनी हुई और फिर बिजली चली गयी उसने होंठों ही होंठों में कुछ कहा और माचिस की डिबिया लाकर कमरे में रखे चिराग़ को रौशन किया. बिस्तर पर रंगवाला बाबू बेसुध पड़ा था. शन्नो बिस्तर के क़रीब गयी उसे लगा वह कई वर्षों का बीमार है. रंगवाले बाबू के प्रति उसके मन में दया भर आयी. उसने झिझकते-झिझकते उसके माथे को छुआ. शन्नो को यूं लगा जैसे उसने तंदूर की गर्म सलाख़ को छू लिया हो. हाथ के ठंडे स्पर्श से रंगवाले बाबू के शरीर में कुछ हलचल हुई. उसने धीरे-धीरे अपनी आंखें खोलीं. उसे आंख खोलते देख शन्नो ने झट से अपना हाथ खींच लिया. शन्नो को लगा जैसे किसी ने उसे चोरी करते हुए पकड़ लिया हो. रंगवाले बाबू ने अपने सूखे होंठों पर जुबान फेरते हुए धीमी आवाज़ में पानी मांगा. शन्नो फौरन बाहर निकल आयी जैसे उसे वहां से भागने का मौक़ा अचानक हाथ लग गया हो. कुछ ही देर में वह लौट गयी. उसके हाथ में पानी का गिलास था. उसने लेटे ही लेटे गिलास थामने के लिए हाथ बढ़ाया, कमज़ोरी के कारण

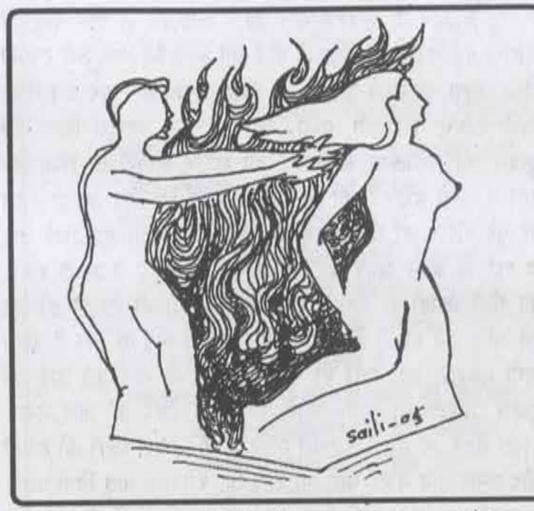

उसका हाथ कांप गया. शन्नो ने उसे सहारा देकर उठाया और उसकी पीठ की तरफ बैठ गयी. ऐसा करने में रंगवाले बाबू का पूरा भार उसके ऊपर आ गया. पानी पिला कर उसे पुनः लिटा दिया. इतनी ही कोशिश में बीमार हांफने लगा. ऐसा लग रहा था कि वह मीलों पैदल चल कर आया हो. कमरे से बाहर निकल कर उसने होटल के लड़के को उठाया और डॉक्टर को बुलवाने भेजा. क़स्बे में एक ही डॉक्टर था. अक्सर वह शहर से ही आना जाना किया करता था. बीमार के भाग्य से वह आज गांव में ही था और समय रहते वह पहुंच भी गया. डॉक्टर ने मरीज़ को चेक किया, इन्जेक्शन लगाते हुए बोला, 'चिंता की कोई बात नहीं, मौसमी बुख़ार है जल्दी उतर जायेगा.' डॉक्टर ने शन्नो को टेबलेट देते हुए कहा, 'हर दो घंटे बाद एक-एक देना, माथे पर ठंडे पानी की पट्टी भी रखना.' डॉक्टर अपना बैग बंद करते हुए निर्देश भी दे रहा था. कमरे से निकलने से पहले उसने एक बार फिर बीमार का मुआयना किया और कहा, 'बुखार तेज़ हुआ तो ठंडे पानी से शरीर को एक दो बार पोंछ देना.' डॉक्टर के जाने के बाद शन्नो ने उसे टेबलेट खिलायी, पानी पिलाया और कमरे से बाहर आ गयी. उसने लड़के को भी सोने के लिए भेज दिया. वह अपने कमरे में लौट आयी. अपने कमरे में पहुंच कर भी उसका ध्यान वहीं लगा था. मन में व्याकुलता ही रही. वह फिर रंगवाले बाबू के कमरे में लौट आयी. आते समय वह अपने साथ कपड़ों के कुछ टुकड़े भी ले आयी. स्टूल खींच कर वह बाबू के सिरहाने बैठ गयी. बारी-बारी से उसके माथे पर गीले कपड़े की पट्टी रख रही थी. एक पट्टी सूख जाती तो उसे हटा कर वह दूसरी रख देती. उसे आश्चर्य था कि उसमें यह कैसा परिवर्तन हो रहा है? आज तक तो उसने किसी के प्रति इतनी दया नहीं दिखायी. वह तो किसी से भी मुंह बात नहीं करती थी और आज एक अन्जान, अपरिचित की सेवा कर रही थी.

डॉक्टर के निर्देशानुसार उसने दवा देने के लिए बाबू को सहारा दे कर उठाया. उसकी पीठ की ओर बैठ कर उसे सहारा दिया. ऐसा करने में बीमार का बोझ उसके सीने पर आ गया. उसने टेबलेट खिलायी, पानी पिलाया. उसने महसूस किया कि बुख़ार की अधिकता से बीमार का शरीर अंगार की तरह तप रहा है. उसे डॉक्टर की बात याद आयी कि ताप ज़्यादा रहने पर पूरे शरीर को गीले कपड़े से पोंछना. झिझकते हुए उसने बाबू के शर्ट के बटन खोले. शर्ट को अलग कर शन्नो ने उसके शरीर को गीले कपड़ों से पोंछना शुरू किया. ज़रा ही देर में डॉक्टर की युक्ति उसे प्रभाव दिखाती लगी. रंगवाले बाबू के ताप में उसने कमी महसूस की. कुछ ही समय गुज़रने के बाद उसे बाबू का बुख़ार उतरता सा लगा. उसने बीमार के चेहरे की ओर देखा. उसके चेहरे पर अब उसे शांति नज़र आयी. इससे पहले की बेचैनी और तनाव अब नज़र नहीं आ रहा था. रंगवाला बाबू बिना पलकें झपकाये उसकी ओर ही देख रहा था. उसकी नज़रों में कृतघ्नता के भाव थे. शन्नो ने उससे नज़रें चुराने की कोशिश की परंतु वह असफल हो गयी. अब वह भी आंखों में आंखें डाले देख रही थी. दोनों एक दूसरे को निरंतर देखे जा रहे थे. लगता था दोनों की आंखें पथरा गयी हों. एक अदृश्य सम्मोहन में दोनों बंधे जा रहे थे. शन्नो को लगा कोई अन्जानी शक्ति उसे आगे ढकेल रही है. वह धीरे-धीरे रंगवाले बाबू की ओर झुकती चली गयी. एक इमारत ख़ुद अपने ही बोझ से ढेर होकर फैल रही थी. तेज़ सांसों का तूफ़ान कमरे को हिलाये दे रहा था. दो ख़ामोशियां एक-दूसरे को पराजित करने के अभियान पर थीं. एक चढ़ाव जिसे पार करने की जी तोड़ कोशिशें थीं. एक आंधी संयम के बांध तोड़ रही थी. कमरे का चिराग़ हिचकियां लेकर शांत हो गया. कमरे में उठा तूफ़ान झाग की तरह धीरे-धीरे बैठ गया. कमरे में एक गहरा सन्नाटा फैल गया. सन्नाटा जो सुबह के हंगामों को जन्म देने वाला था.

अपने बिस्तर पर बैठी शन्नो पत्थर की मूरत बनी हुई थी. हतप्रभ सी बैठी लालटेन की लौ को अपलक देख रही थी. वह महसूस कर रही थी जैसे बीमार का सारा ताप चूस लिया हो. उसके मन-मस्तिष्क में एक ज्वार-भाटा मचल रहा था. उसकी समझ में नहीं रहा था, यह सब कैसे हो गया ? वह सोच-सोच कर कांप उठती थी. बीती रात उसे भयानक सपने सी लग रही थी. बड़ी-बड़ी मुसीबतों के पर्वत उसने साहस और संघर्ष से पार किये. अबसे पहले आज जितनी कमज़ोर वह कभी नहीं हुई थी. कठिन से कठिन समय में भी उसने हालात के सामने घुटने नहीं टेके थे. उसके अहम और संयम की इमारत आज ढह गयी थी.

सूरज की अंगड़ाई के साथ ही होटल में आने-जाने वालों की आमद बढ़ गयी थी. आज शन्नो की गतिविधि में अंतर था. होटल में हमेशा के आने-जाने वालों ने भी महसूस किया. न पहले सी चीख़-पुकार, न गाली-गलौच और न ही छोकरे को आवाज़ देने का उसका ख़ास अंदाज़. इस परिवर्तन के विषय में उससे कोई पूछता, किसमें इतना साहस. छोकरे के याद दिलाने पर उसे ध्यान आया कि दोपहर के बारह बजने को आये उसने आज रंगवाले के लिए चाय भी नहीं भेजी. उसने लड़के से चाय नाश्ता दे आने को कहा. लड़का गया और उल्टे पांव वापस आ कर बोला, 'वह कमरे में नहीं है.' शन्नो ने सामान रखकर लड़के से अपना काम करने कहा. वह भी अपने काम में लग गयी. परंतु पहले जैसी काम के प्रति उसकी लगन आज नहीं थी. रह-रह कर उसकी एकाग्रता भंग हो जाती थी. बार-बार मन भटक जाता था. रंगवाला बाबू कहां गया होगा ? यह ख़्याल रह-रह कर उसे परेशान कर रहा था. सारे दिन पिछली रात की घटना उसके मन-मस्तिष्क को मथती रही. तरह-तरह की आशंका से उसका मन परेशान रहा. शंका-कुशंकाओं से ख़ुद को मुक्त करने के लिए ख़ुद को काम में उलझाने का यत्न करती रही. इसी उधेड़बुन में दिन से रात हो गयी. होटल को बंद कर वह अपने कमरे में जाते हुए रंगवाले बाबू के कमरे के सामने ठिठक कर रुक गयी. उसे याद आया आज तो बाबू ने खाना भी नहीं मंगवाया. उसका मन आशंका से धड़कने लगा. उसने कांपते हाथों से दरवाज़े को छुआ. दरवाज़ा बिना किसी विरोध के खुलता चला गया. कमरे में बल्ब की मद्धिम रोशनी बिखरी हुई थी. दरवाज़े से ही उसने कमरे का निरीक्षण किया. कमरा खाली था. केवल एक दो आधी-अधूरी पेंटिंग्स ही थीं वहां. रंगवाले बाबू का सामान भी कमरे में नहीं था. उसे लगा बिस्तर की सलवटें उसका मुंह चिढ़ा रही हैं. उसे स्टूल पर रखे गिलास के नीचे कुछ नोट दबे हुए नज़र आये. वह कमरे में दाख़िल हुई. गिलास को उठाया, नोट के नीचे कागज़ का एक पुर्ज़ा भी था. उसने खोल कर देखा. कागज़ पर केवल एक पंक्ति लिखी हुई थी, 'अनजाने में हुए अपराध के लिये शर्मिंदा हूं.' शन्नो के तन-बदन में आग सी लग गयी. उसे लगा जैसे किसी ने गाली दी हो. आज तक उसे छूना तो दूर गंदी नज़र से देखने का दुस्साहस किसी ने नहीं किया था. होटल में आने-जाने वालों को उसका रौद्र रूप देखने का मौक़ा कई बार मिल चुका था. कभी किसी को उसने अपनी खींची हुई मर्यादा रेखा लांघने नहीं दिया था. रात की घटना को उसने अपनी ही कमज़ोरी मान लिया. उसने इसे भी भगवान की इच्छा मान स्वीकार कर लिया. परंतु रंगवाले बाबू ने अपराध कह कर उसके मन पर चोट कर दी. उसके समर्पण को बाज़ारू कह गया. उसके सम्मान पर यह गहरा आघात था. इस अपमान पर वह तिलमिला उठी. उसका मन चीख़-चीख़ कर रोने को हो रहा था. वह रो भी नहीं पा रही थी. इस अपमान के घूंट को निगल भी नहीं पा रही थी. उसने घृणा से बिस्तर पर थूक दिया. 'कायर', उसके होंठों से शब्द फिसल पड़ा. वह डबडबाई हुई आंखों के साथ घिसटती सी अपने कमरे की ओर

बढ़ रही थी. जैसे कोई हारा सिपाही अपमान की पीड़ा ढोते लौट रहा हो. कहते हैं, ख़ुशियां मरुस्थल के रास्ते से हो कर आती हैं और दुख हवा के परों पर. हुआ भी यही. शन्नो ने ख़ुद में होते हुए बदलाव को महसूस किया. अपने क्रिया-कलापों का क्रम बिखरता हुआ सा लगा. वह चिंतित हो उठी. शन्नो कोई बच्ची तो थी नहीं. दूसरी कामकाजी औरतों की अपेक्षा उसने दुनिया को ज़्यादा देखा समझा था. औरों की तुलना में उसके अनुभव अधिक थे. वह हर अच्छे-बुरे समय का सामना कर चुकी थी. औरतों के सुख-दुख, उनकी तकलीफ़, बीमारी और उनके शारीरिक नियम संयम का भी उसे ज्ञान था. उसका चिंतित होना स्वाभाविक था. जो शन्नो बिफरे हुए सांड के नकेल डाल देती थी, अब बिन बाप के बच्चे की मां कहलायेगी. शन्नो ने अपने होंठ भींच लिये. उसकी आंखों से आंसुओं की धार बह निकली. इतना विवश तो वह तब भी न हुई थी, जब बाप के मरने के बाद वह अकेली पड़ गयी थी. हवस के दरिंदे उसके जवान जिस्म को यूं घूरा करते थे जैसे लूट का माल हो. ऐसे समय में भी वह घबराई नहीं थी. ख़ुद को उसने इतना असहाय और विवश महसूस नहीं किया था. आज वह ख़ुद को पूरी तरह टूटा हुआ महसूस कर रही थी. तबियत ठीक न होने का बहाना बना कर आज वह अपने कमरे से भी नहीं निकली. बिस्तर पर पड़े-पड़े वह छत को टकटकी बांधे देख रही थी. वह सोच रही थी अगर यह छत टूट कर उस पर आ गिरे तो क़िस्सा ही ख़त्म. एक ही बार में मुसीबत से छुटकारा मिल जाता. उसके मन-मस्तिष्क में विचारों के केंद्र बन-बिगड़ रहे थे. एक जाता, उसकी जगह दूसरा ले लेता. इन्सान को वास्तविक भय उसकी बंधी हुई मुट्ठी खुल जाने का होता है. वैसे कोई किसी से डरता नहीं. वह सारा दिन अपने कमरे में ही पड़ी रही. उसका मन न कुछ खाने को कर रहा था और न ही कुछ काम करने को. इस मुसीबत ने उसके सोचने समझने की शक्ति भी कुंद कर दी थी. जब भी वह आंख बंद करती, उसे लगता वह कोई निरीह प्राणी है जिसे क़साई घसीटता हुआ ले जा रहा है. पूरा दिन इसी तरह बीत गया. उसे मुक्ति की राह न मिल पायी. उसने पहली बार जाना कि जो मर्द पहाड़ों का सीना चीर सकता है वह अंदर से कितना कमज़ोर होता है. शाम का धुंधलका रात की बांहों में सिमट गया. हमेशा की तरह आज भी लाइट अवकाश पर थी. बिस्तर से उठकर उसने दिया-बाती के लिए लालटेन उठायी. लालटेन की पायली धुंए के कारण काली पड़ गयी थी. उसे लगा कल उसकी भी हालत यही होगी. वह किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रहेगी. कपड़ा ले कर उसने लालटेन की पायली को साफ़ किया. पायली चमकने लगी थी. पायली पारदर्शी हो गयी थी. कालिख़ का नामो-निशान दूर-दूर तक न था. अचानक लगा उसने मुक्ति का मार्ग पा लिया हो. वह क्यों किसी का बोझ ढोती फिरे? इस बोझ को उतार फेंकने में ही उसकी भलाई है. एक बुज़दिल और कायर के लिए वह क्यों अपना जीवन नरक करे. अगर यह पाप है तो वह अकेली इसकी ज़िम्मेदार नहीं है. फिर क्यों वह अकेली नरक भोगे. इस बोझ से मुक्ति पा लेने में ही उसकी भलाई है. उसने निर्णय ले लिया कि उसे क्या करना है.

थोड़ी ही देर में उसका निर्णय लड़खड़ा गया. उसके अंदर की वह औरत उठ खड़ी हुई जो आज तक मर्दों के बनाये समाज और उसके नियमों से टकराती रही. इस परिस्थिति के लिए वह भी तो बराबर की भागीदारी है. इसमें उसकी भी सहमति थी. उसके मन ने कहा, 'वह इसे पाप नहीं मानती. जो पाप नहीं है उसका प्रायश्चित कैसा. उसकी सज़ा क्यों ?' अपने निर्णय पर उसने स्वीकृति की मुहर लगा दी. चाहे जो हो जाये वह अपने किसी भी अंग को अलग नहीं होने देगी. उसमें भी दूसरी औरतों की तरह प्रेम, स्नेह और ममता का सागर है. उसे भी दूसरी औरतों की तरह इन अनुभूतियों के साथ जीने का अधिकार है. उसकी कोख़ किराये का कमरा नहीं है कि मुसाफिर जाते हुए कूड़ा-करकट छोड़ गया हो. वह औरत है, कोई सराय नहीं. उसके चेहरे से तनाव के चिन्ह धूमिल होने लगे थे. लालटेन की रोशनी कमरे का अंधेरा दूर कर रही थी.

✍ वहीद मंजिल, अंसारी वार्ड,
गोंदिया (महा.) ४४१६०१

इत्ता-सा भी प्यार नहीं !

✍ अमित जांगड़ा

बुलबुल के पंखों का लाल चटक रंग
जैसे लगता धुंधला-सा गया
दिन में अंधड़ वातावरण में
गौरैया के आने की पुलक
गुम-सी गयी कहीं
ऊंघते जंगल के भीतर
भूल गयी टिटहरी जैसे
आसमां का गला पकड़ जोर से टिर्राना
बय्या बस्तियों से दूर जाकर
बनाने लगा है बसेरा
दबने लगी है, नीड़ों के
उजड़ने की आवाज़ फ्लैटों की नींवों तले
आदमी कब तक यूं ही
चुप घास को रौंदता दौड़ेगा ?
क्या उसे बुलबुल, गौरैया के
छोटे-छोटे पंजों और पंखों से
इत्ता-सा भी प्यार नहीं !

✍ कोथल कलां, महेंद्रगढ़ (हरि.) १२३०२८

कहानी

आज की पांचाली

मैं जब भी काग़ज़-क़लम लेकर कुछ लिखने बैठता हूं, वह अपने बेटे का हाथ थामे आकर सामने खड़ी हो जाती है. वह बोलती कुछ नहीं, सिर्फ़ टकटकी लगाये मुझे घूरती रहती है. मगर उसके कुछ नहीं बोलने में भी बहुत कुछ बोलना होता है, मानो वह अपनी मौन भाषा में मेरा मुखर तिरस्कार करती हुई पूछ रही है- 'लेखक बाबू, आख़िर मेरा नंबर कब आयेगा ?' मेरे बारे में लिखने से आप कतराते क्यों हैं ? आपके पास मुझे और कितने दिन दौड़ना पड़ेगा ? कब तक आपके पास से निराश होकर मैं लौटती रहूंगी ? आपसे मैं धन-दौलत, गहना-गुरिया की आशा नहीं रखती. मेरी मांग तो बस इतनी ही है कि आप मेरे बारे में कुछ लिखें.

जी हां, आज भी जब मैं लिखने बैठा हूं, मेरे सामने वह युवती अपने बेटे का हाथ थामे हाज़िर हो गयी है. बिना पूछे वह मेरे कमरे में आकर मेरी बगल की कुर्सी में जम गयी है. उसका बेटा उसकी बगल में खड़ा कमरे को उत्सुकता-भरी नज़रों से घूर रहा है. मैं अपना माथा उठाकर उसकी तरफ देखता हूं. वह बोलती कुछ नहीं. उसके चेहरे पर शरारत में लिपटा मेरे प्रति मुखर तिरस्कार है. कमरे का माहौल अचानक बोझिल हो उठा है. फुल स्पीड में चलता हुआ पंखा दीवाल से झूलते कलेंडर में फड़फड़ाहट पैदा कर रहा है, जिससे एक मोहक नारी-छवि लगातार मुस्कान फेंके जा रही है.

'तो आख़िर तुम फिर आ ही गयी ?'

'..........'

'आख़िर, तुम मेरे पीछे क्यों पड़ी हो ? और भी तो तमाम लेखक हैं. तुम उनके पास क्यों नहीं जाती ?'

'..........'

'तुम चुप क्यों हो ? मुझे तुम पर गुस्सा आ रहा है.'

'..........'

'अच्छा, एक बात बतलाओ. तुम भीतर आयी कैसे ? दरवाज़ा तो बंद है.'

'मैं तो मिट्टी हूं. मिट्टी को किसी लेखक के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश करने के लिए दरवाज़े की ज़रूरत पड़ती है क्या ?'

इस बार वह बोली है. उसकी बात रहस्य में लिपटी हुई है, जिसमें सवाल भी है और जवाब भी. उसके बैठने और बात करने के ढंग से लगता है कि इस बार वह कुछ कठोर निर्णय करके आयी है. उसका बेटा मेरी मेज़ से एक किताब उठाकर धीरे-धीरे अटक-अटककर पढ़ने लगता है. वह उसे मना करना चाहती है, पर मैं युवती को रोक देता हूं.

'साफ़-साफ़ कहो, तुम चाहती क्या हो ?'

'मैं चाहती हूं कि आप मुझ पर लिखें. मगर आप हैं कि मेरी उपेक्षा किये जा रहे हैं. वर्षों से मैं आपके पीछे पड़ी हूं, मगर आप मुझसे दूर भागते रहे हैं.'

'तुम मुझे गलत समझ रही हो. मैं तुमसे दूर...'

'मैं आपको एक संवेदनशील लेखक मानती थी, मगर आप तो बड़े बेदर्द निकले. कोई इस तरह भी किसी को परेशान करता है. ज़रा सोचिए.....'

'दरअसल मैं......'

जयनारायण

'आप चाहे जो कहें, मैं आपको यों ही बख़्शने वाली नहीं. आपने मुझे उस दिन देखा था. गांव के पास वाले बाज़ार के पास बस अड्डे पर. इसी लड़के का हाथ थामे मैं बीच रास्ते में खड़ी थी. आंखों में घुमड़ते आंसुओं की बरसात को रोकने की असफल चेष्टा करती हुई. भीतर की वेदना आंसुओं के रूप में बाढ़ के पानी-सी लाज की दीवार ढहाकर निकलना चाहती थी. आप चायख़ाने में बैठे चाय पी रहे थे और रह-रहकर मेरी ओर देख लेते थे. आंसुओं से धुंधलाई मेरी आंखें उस बस का पीछा कर रही थीं, जिसमें चढ़कर मेरा आदमी पास के रेल्वे स्टेशन पर जा रहा था पंजाब के लिए गाड़ी पकड़ने. रास्ते में चहल-पहल बढ़ने लगी थी. चायख़ाने में भी लोगों की भीड़ थी. सहालग के दिनों में हर बस-अड्डा, बाजार लोगों से गुलज़ार हो उठता है. मैं भरी भीड़ में लुट गयी थी. मेरी दुनिया उजाड़कर बस चली जा रही थी.'

'हां, उस दिन मैंने तुम्हें बस-अड्डे पर देखा था. तुम बीच रास्ते में खड़ी थीं, इस बच्चे का हाथ थामे. तुम्हारे आंखों में आंसू थे, जिसे तुम आंचल के कोर से रह-रहकर पोंछ लेती थीं. तुम्हारी मांग में अगर सिंदूर नहीं होता और साथ में यह लड़का, तो कोई भी तुम्हें अठारह-बीस साल की लड़की समझने की भूल कर सकता था.'

'हां, आप ठीक कह रहे हैं. मेरी शादी बचपन में ही हो गयी थी और शादी के दूसरे साल यह बच्चा भी गोदी में आ गया......मगर जाने दीजिए, यह एक अलग विषय है. मैं इसके

लिए वर्षों से आपका पीछा नहीं कर रही हूं.'

'तो क्या मैं इस विषय पर नहीं लिख सकता ?'

'नहीं.'

'तो ?'

'आप पहले मेरे एक सवाल का जवाब दीजिए. आप में मैंने अपने पिता का रूप देखा है. आप एक सहृदय लेखक भी हैं. इसलिए मेरा यह अधिकार बनता है कि मैं आपसे पूंछू कि आख़िर कब तक मैं यों ही बस-अड्डे पर खड़ी-खड़ी बच्चे का हाथ पकड़े पति को पापी पेट की ख़ातिर परदेस जाते हुए आंखों में आंसू भरकर देखती रहूंगी ? बस-अड्डे पर मुझे सरेआम डहकते हुए देखकर क्या आपको दया नहीं आयी थी मुझ पर ? दुनियां तो यही सोचती होगी, न कि देखो यह औरत कितनी बेहया है. मर्द के लिए रो रही है. आप जानते हैं, जिस दिन मेरे आदमी ने पंजाब जाने की बात कही थी, मैंनें उस दिन से खाना-पीना छोड़ दिया था. खाने बैठती तो हूल आती थी. सास-ननद की आंखें बचाकर रो भी लेती थी. जाने के दिन सवेरे ही उठकर मुझे खाना बनाना था, इसलिए सवेरे ही उठ गयी थी...... नहीं, उस रात मैं सोयी ही कहां थी. रातभर अपने आदमी की छाती में मुंह छिपाये मैं डहकती रही थी.

'हर बार यही कहानी दुहराई जाती है. जब भी मेरा आदमी घर आता है, घर में ख़ुशियां लौट आती हैं. मेरे तो जैसे पांव ही धरती पर नहीं पड़ते. भूख-प्यास जैसे उड़ जाती है. मन करता है कि मेरा आदमी मेरे पास बैठा रहे और मैं उसे बस एकटक निहारती रहूं. मगर लेखक साहब ऐसा क्यों होता है कि ये ख़ुशियां स्थायी नहीं होतीं ? पेट दिल पर हावी हो जाता है और फिर बिछोह की वही कहानी हर बार दुहराई जाती है. पीड़ा और दर्द की उन्हीं परिचित पगडंडियों से गुज़रना होता है मुझे ?'

'लेखक साहब, आप भी तो उसी अंचल के हैं, जहां की मैं हूं, तो आपने यह गीत तो सुना ही होगा, जिसमें नायक नायिका से कहता है--

"हाली-हाली जेवना 'बनावऽ, जनि देरऽ करऽ,
छूटत बाड़े गाड़ी के टयमऽ प्यारी धनियां,
जाई कलकतवा धनि करबो नोकरिया से
लेई आयेब छाप वाली साड़ी प्यारी धनियां." और इसके साथ ही नायिका का जवाब भी आपने सुना होगा --

"अगिया लगायेब पिया, छाप वाली सड़िया में,
रखबो नयन के हुजूर हो बलमुआ."

लेखक साहब, मेरी मांग कुछ ज्यादा नहीं. मैं तो रूखा-सूखा खाकर, लुगरी-फरही पहनकर गुज़र कर लूंगी. बस मेरी यही इच्छा है कि मेरा प्राणधन-मेरे नयन के हुजूर (सामने) रहे. जब वह दिन-भर खटकर रोज़ शाम को घर लौटेगा तो मैं उसे जी भर निहारकर जो संतोष-सुख पाऊंगी, वह संतोष क्या उसकी

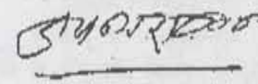

जन्म : १९३७ में बावनडीह, जिला - सिवान (बिहार);
शिक्षा : कला स्नातक

वरिष्ठ कवि, कहानीकार एवं रचनाकार

तीन पुस्तकें प्रकाशित, लगभग ६ संग्रहों में रचनाएं संग्रहित. हाल ही में एक उपन्यास 'युद्ध असमाप्त' नाम से पूरा किया. इसके अलावा आधे दर्जन से अधिक पांडुलिपियां प्रकाशन की बाट जोह रही हैं. लघुपत्र 'अस्वीकार' एवं 'समर काल' का संपादन.

जयनारायण जी की प्रतिबद्धता उन लोगों के प्रति है, जो दलित हैं, वंचित हैं, और सदियों से समाज के हाशिये पर फिंके हैं. कबीर, मुक्तिबोध, नागार्जुन और धूमिल की परंपरा को आगे बढ़ाने वाला यह रचनाकार फक्कड़ अंदाज में बिना किसी शोर-शराबे के 'अभिव्यक्ति के ख़तरे' उठाता है. प्रगतिशीलता का जामा पहनकर पौराणिक नायकों को चौराहे पर खड़ा करना निरापद व सुरक्षित तरीका हो सकता है, किंतु आधुनिक (खल)नायकों को अपनी रचना का उपादान बनाने से कतराना स्वयं लेखक को ही चौराहे पर खड़ा कर देता है.

जयनारायण की भाषा कबीरी है. ये भाषा के आभिजात्य के दुराग्रह से बचते हुए अपनी रचना को पाठकों तक ले जाते हैं.

परदेस से लायी छापवाली साड़ी दे सकती है ? लेखक जी आप ही बतलाइए, मेरी यह तमन्ना पूरी क्यों नहीं हो सकती ?'

'मैं जानती हूं, आप सोच रहे होंगे कि एक तरफ़ तो यह लड़की मुझमें पिता की छवि देखती है और दूसरी तरफ़ मुझसे ऐसी बातें कर रही है. भला, कोई बेटी अपने पिता से इस तरह की निर्लज्ज बातें करती है ? मगर क्या करूं मजबूरी है. आप तो एक लेखक भी हैं और एक लेखक एक डॉक्टर भी होता है, समाज का डॉक्टर. लेखक और डॉक्टर से रोग छिपाकर क्या कोई रोग से छुटकारा पा सकता है ? उस दिन जब मैं अपने आदमी को बस-अड्डे पर भरी आंखों और उदास मन से विदा कर रही थी, तो मन करता था कि उसकी छाती से लगकर पूछूं कि,

"आजु के गईल भंवरा कहिया ले लवटबऽ
कतेक दिनवां हो जोहबि तोहार बटिया ?

दिनवां गिनत मोर अंगुरी खियानी हो
चितवते दिनवां मोर नयनवां दुरे लोखा."

लेखक साहब, आप चुप क्यों हैं ? कुछ बोलते क्यों नहीं? आख़िर मैं कब तक यूं ही 'पुरुबी बनिजिया' पर या पंजाब-दिल्ली-गुजरात जानेवाले पति की छाती में मुह छिपाकर रातभर डहकती रहूंगी ?. कब तक मैं भरे मन और गीली आंखों से पति को सत्तू- लिट्टी का कलेबा थमाते हुए पूछती रहूंगी - 'आजू के गईल भंवरा कहिया ले लवटबऽ ?' क्या इस सवाल का जवाब कभी मिलेगा? कहां मिलेगा, कौन देगा....?'

मैं देखता हूं, वह बोलते-बोलते बीच में ही थम गयी है. शायद सांस लेने के लिए. उसकी ज़ोर-ज़ोर से चलती हुई सांस और गले की फूली नसें कह रही हैं कि वह काफ़ी आवेश में है. कमरें में भयावह सन्नाटा है. बच्चा मां की गोदी में बैठकर मां के कान से मुंह सटाकर धीरे-धीरे कुछ कह रहा है. युवती उसे हाथ के इशारे से चुप रहने को कह रही है. कलेंडर की मोहक छवि पूर्ववत मुस्कान बिखेर रही है. सहसा मुझे अपनी भूल का अहसास होता है. मैं किचेन में जाकर देखता हूं, वहां बच्चे के लिए कुछ नहीं मिलता. निराश लौट आता हूं - 'सुनो, बच्चा भूखा होगा. काफ़ी देर हो गयी है. बैठे, मैं बग़ल की दुकान से बिस्कुट लाता हूं.'

वह मुझे रोक देती है - 'नहीं, यह कुछ नहीं खायेगा. आप निश्चिंत रहो. मैं तो आप के पास अपनी समस्याएं लेकर आयी हूं ताकि सदियों की अपनी पीड़ा को कहकर थोड़ी हल्की हो लूं या आप कोई रास्ता ही सुझा सकें. आप तो जानते ही हैं कि आदमी अपने गहन निराशा के क्षणों में कितना असंगत आचरण करने लगता है. जब उसके सामने अनिश्चित भविष्य का अंधेरा पसरा हो और उसके सारे सवाल अनुत्तरित रह जाते हों, तो आदमी अपनी खीज को अपने सबसे नज़दीक के लोगों पर ही तो उतारता है. मेरी खीज भी तो इसी तरह उतरती रही है.

"बारह बरीस पर पिया मोर अइले,
अइले गलगोंछवा बढ़ाई रे.
तोरा गलगोंछवा में लुतिया लगईबो से
अईले मोर उमिरी गंवाई रे."

'और यह उदासी और दैत्य बनकर मुझे अपने भाग्य पर रोने को विवश करती है.

"सरगऽ से बयरी भईले कारे रे बदरवा,
नदिया में लागल बा सेवार रे.
हमरा से बयरी भइले पातर बलमुंआ,
नान्हे उमिरि जाले परदेस रे."

'लेखक जी, यही मेरी नियति रही है. इसी नियति को मेरी मां ने भी भोगा होगा. जब-जब मेरा बाप 'पुरुबी बनिजिया' पर जाता होगा, तब-तब वह इसी तरह डहकी होगी अपनी सास-ननंद की नजरें बचाकर और यही नियति मेरी मां की मां की भी रही होगी और.......'

मैं युवती को बीच में ही रोक देता हूं - 'सुनो, यही इस मिट्टी की विडंबना है. तुमने ठीक ही कहा, यह तुम्हारी मां की और उनकी मां की और उनकी मां की विडंबना व वेदना मात्र नहीं है. यह तुम नहीं बोल रहीं ! तुम तो महज एक प्रतीक हो. असल में इस अंचल की लोक-नायिका डहक रही है, माटी डहक रही है सैकड़ों वर्षों से. वही माटी तुम हो. रात भर बगीचे में पपीहे की 'पी कहां', 'पी कहां' की आवाज़ गूंजती रहती है. यह पपीहे की आवाज़ नहीं, यह माटी की डहकन है, विरह-विलाप है. इस विरह-विलाप पर किसी का दिल नहीं पिघला. किसी ने लोक-नायिका को आश्वासन नहीं दिया कि आज से तुम्हारा नायक तुम्हारे साथ रहेगा. उसे यहीं जीविका के साधन उपलब्ध होंगे. अब तुम्हें पिया द्वारा द्वार पर लगाये खजुलिया (आम का छोटा पेड़) पर चढ़कर पिया की राह नहीं देखनी पड़ेगी.

"पिया मोर गइले रे पुरुबी बनिजिया से
दुअरा खजुलिया लगाई सुन रे गोरिया.
ओहि रे खजुलिया चढ़ि चारों ओर चितई से
पियवा बसे नियरा कि दूर सुन रे गोरिया."

वह अपने हाथ के इशारे से मुझ रोक देती है. मैं चुप हो जाता हूं. मैं भी चाहता हूं कि वह अपने हृदय की संपूर्ण व्यथा कहकर हल्की हो ले. आदमी अपनी पीड़ा को कह-बांटकर हल्का हो लेता है, अपने भीतर ताज़गी और उत्साह महसूस करने लगता है, वह ख़ुद को सर्वथा बदला हुआ पाता है.

'तो आख़िर आपने क्या सोचा ? मेरे लिए कुछ कीजिए. क्या यों ही मेरी ज़िंदगानी सैकड़ों सालों से मिट्टी में मिलती रहेगी ? आप कुछ करते क्यों नहीं ? आप तो लेखक हैं. समाज को रास्ता दिखाने वाले. अगर आप भी चुप रहेंगे, तो इस समाज का क्या होगा ? आप भी तो वही सब कह रहे हैं, जो मैं कह रही हूं. मगर मैं तो आपके पास समस्या का समाधान खोजने आयी हूं, ताकि मेरा करुण विलाप थम सके.'

'हां, दोनों ओर एक ही आग जल रही है. क्या तुम समझती हो कि घर छोड़ते समय तुम्हारे आदमी के मन में वियोग की आग नहीं जलती होगी ? उसका मन भी उतना ही बिलखता है, जितना तुम्हारा. पीछे छूट गये खेत-खलिहान, बाग-बगीचे, घर-आंगन जब परदेस में याद आते हैं, तो आदमी का मन तड़प उठता है. मैं भी उसका भुक्तभोगी हूं और ऐसा ही मेरे पिताजी ने भी अनुभव किया होगा, जब वे घर से 'पुरुबी बनिजिया' पर निकले होंगे और ऐसा ही उनके पिता, फिर उनके पिता, फिर.... यह सिलसिला तो सैकड़ों वर्षों का है. पता नहीं, यह सिलसिला किस मनहूस घड़ी में शुरू हुआ था. कंबख़्त थमने का नाम ही नहीं ले रहा.'

'मैं इसीलिए तो आपके पास आयी हूं, ताकि आप अपने लेखन के द्वारा कोई रास्ता सुझा सकें. इस दिशा में कुछ सोचें, कुछ प्रयास करें. आख़िर, ऐसा कितने दिनों तक चलेगा ?'

'मगर मैं तो ......'

मुझे लगता है, मैं चारों तरफ से घिर गया हूं. मुझसे कुछ कहते नहीं बनता. मेरी ज़ुबान जैसे तालू से सट गयी है. यह अचानक क्या हो गया मुझे ! मुझे पसीना क्यों आ रहा. कमरे में फड़फड़ाता हुआ कलैंडर पंखा चलने की गवाही दे रहा है. मैं चोर-नज़र से युवती के चेहरे को देखता हूं, वह पूरी तरह से सामान्य है. उसके चेहरे पर पसीने की एक भी बूंद नहीं दिखती.

'हां, सोचता तो मैं भी हूं कि इस सिलसिले का ख़ात्मा होना ही चाहिए. मगर मैं भी तुम्हारी तरह ही.......'

'लाचार हूं' - यही कहना चाहते हैं आप ?'

'हां, मैं लाचार हूं. यह काम तो राजनीति का है, मैं तो एक अदना लेखक हूं. मेरी क्या बिसात कि मैं अपनी लोक-नायिका का भाग्य बदल सकूं. जो काम सैकड़ों वर्षों से नहीं हो पाया, उसको मैं अकेले कैसे कर सकता हूं ?'

'यही तो रोना है, लेखक बाबू. आप लोग बातें तो बड़ी-बड़ी करते हैं - क्रांति की, समाज-परिवर्तन की, मगर समय आने पर पीछे हट जाते हैं. अपनी ज़िम्मेदारी दूसरों पर डाल देते हैं.'

'तुम चाहे जो कहो. चाहो, मुझे गाली दो, चाहो तो मुझ पर थूको, मगर मैं भी तुम्हारी तरह ही लाचार हूं.'

'नहीं लेखक साहब, नहीं. इस तरह ज़िम्मेदारियों से भागने से नहीं चलेगा. अभी आपने थोड़ी देर पहले कहा है कि, यह काम तो राजनीति का है, तो क्या आप समझते हैं कि मैं सीधे आपके पास ही चली आ रही हूं ? पहले मैं एक समाज-सेवक के पास गयी थी. उसने मेरी तरफ देखा तक नहीं. नौकर से कहलवा दिया कि - मेरे पास समय नहीं है, मैं राजधानी जा रहा हूं.

बाद में मुझे पता चला कि वह मुख्यमंत्री के क़रीबी रिश्तेदारों के साथ मिलकर तस्करी, अपहरण और डकैती के रूप में 'समाज-सेवा' करता है. बलात्कार और हत्या के कई मामले उसके विरुद्ध राज्य के कई न्यायालयों में लंबित हैं. ऊपर तक उसकी पहुंच होने के कारण पुलिस उस पर हाथ नहीं डाल रही. मुझे लोगों ने बतलाया कि वह आगामी विधानसभा चुनाव में शासक दल के टिकट पर चुनाव लड़ने वाला है.

फिर मैंने सोचा कि क्यों न मैं सीधे अपने मुख्यमंत्री जी से ही मिलूं. आख़िर, वे जनता के प्रतिनिधि हैं. उनसे बढ़कर जनता का हितैषी भला दूसरा कौन हो सकता है! सो, मैं पहुंच गयी राजधानी में उनके बंगले पर इस बच्चे का हाथ थामे. बाप रे, क्या शान है अपने मुख्यमंत्री जी की ! बाहर से उनकी कोठी किसी राजा का महल लगती थी. बाहर गेट पर बंदूकधारी

पहरेदार किसी को भीतर जाने नहीं दे रहे थे. लोगों की तलाशी लेकर छोड़ते. मेरी तो जैसे हिम्मत ही जवाब दे गयी. सोच रही थी लौट चलूं. फिर दिमाग़ में आया, क्यों न एक बार तक़दीर आजमायी जाये. मुझ पर न सही, इस बच्चे पर ही पहरेदार शायद तरस खाकर भीतर जाने दें. पास गयी तो हज़ार तरह के सवाल, मसलन, 'कहां से आयी हो ? आगे से मिलने का समय लिया है कि नहीं ? क्या काम है आदि-आदि.' मेरी छोटी बुद्धि में जो आया, वह मैंने कह दिया. मुझे वहीं गेट से हटकर बैठने के लिए कहा गया. भूख के मारे मेरी हालत बुरी थी. मेरा बेटा तो भूख के मारे छटपटा रहा था, किंतु मैं वहां से कहीं जा भी नहीं सकती थी. पता नहीं, कब पहरेदार मुझे भीतर जाने को कह दें.'

'तीन-चार घंटे बाद पहरेदारों में से एक ने मुझे अंगुली के इशारे से पास बुलाया और पूछा कि मुख्यमंत्री जी से कैसे मिला जाता है, तुम जानती हो ?' मेरे इन्कार में सिर हिलाने पर उसने ख़ुद ही मुझे समझाया कि मुख्यमंत्री जी से काम कराने के लिए उनके पांव पकड़कर मुझे गिड़गिड़ाना होगा और बच्चे को उनके पांव पर लिटाकर कहना होगा कि 'दोहाई धर्मावतार माई-बाप आपकी शरण में आयी हूं. अब आप ही मेरे सब कुछ हैं'- यह याद रहेगा न ? भूल तो नहीं जाओगी ? भूली तो तुम जानो और तुम्हारा काम जाने - पहरेदार ने मुझे आख़िरी बार चेताया. उसने मुझे यह भी बताया कि जो लोग मुख्यमंत्री जी के पांव पकड़कर गिड़गिड़ाते नहीं, मुख्यमंत्री जी उनकी तरफ़ देखते भी नहीं. वे उन्हें गाली देकर भगा देते हैं. हम लोगों को भी डांटते हैं कि कैसे लोगों को हम लोग भीतर जाने देते हैं. कभी-कभी तो हमें मुख्यमंत्री जी की गाली भी सुननी पड़ती है. एक बात और यह बच्चा अभी नादान है, शायद ऐन मौक़े पर साष्टांग दंडवत करना भूल जाये, इसलिए इसको अभ्यास करा लो. पहरेदार का अंदेशा जायज़ था. मेरा बेटा नादान था. दंडवत कैसे किया जाता है,

इससे वह अनजान था. इसलिए इसको अभ्यास कराया, तो पहरेदार संतुष्ट-सा दिखा. 'हां, अब तुम जा सकती हो. मगर जैसा कहा है, और किया है, वैसा ही कहना और करना. यह हमारी नौकरी का भी सवाल है' - पहरेदार ने हमें आख़िरी बार चेताया और हमें ले जाकर एक कमरे में एक आदमी की तरफ़ धीरे से ठेलकर चला गया.

कमरा बड़ा था और ठंडा था. गर्मी के दिन में इतनी ठंडी मैंने ज़िंदगी में पहली बार अनुभव की. बाहर की गर्मी और कमरे की ठंडी में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ था. कमरे की दीवार में जालीदार एक मशीन घनघना रही थी. शायद यह कमाल उसी मशीन का था. मेरे आदमी ने बतलाया था कि बड़े लोग अपने घरों में एक तरह की मशीन लगाते हैं, जो कमरों को जाड़े में गरम और गर्मी में ठंडा रखती है. उसको शायद 'ए. सी. मशीन' कहते हैं.

'कमरे में कई लोग थे. इसीलिए पहरेदार ने बीच में बैठे उस आदमी की तरफ धीरे से हम मां-बेटे को ठेला था, ताकि किसी ग़लत आदमी के पांव न पकड़ लूं. मैंने एक नज़र उन पर यानि मुख्यमंत्री जी पर डाली. वे कुर्ता-पाजामा पहने थे. काले फीते में बंधा उनका चश्मा गले से लटक रहा था. सिर पर बेतरतीब-से बिखरे हुए छोटे-छोटे पके बाल देखने वालों के मन में उनके हलवाहा-चरवाहा होने का भ्रम पैदा कर रहे थे. लगता था, जैसे खेत में हल चलाते-चलाते कोई हलवाहा अचानक कुर्ता-पाजामा पहनकर वहां आ बैठा है. वे सोफ़े की पीठ पर दोनों हाथ पसारे, पांवों को सामने की मेज़ पर फेंककर बेफ़िक्री से हिला रहे थे. पान चबाते रहने के कारण उनकी अस्पष्ट बातें भले किसी की समझ में नहीं आती थीं, मगर सभी भक्तिभाव से ऐसे मूड़ी हिला रहे थे, मानो सब कुछ उनकी समझ में भलीभांति आ रहा है. कमरे में मुख्यमंत्री जी के साथ जो लोग बैठे थे, वे हावभाव, पहनावे तथा बातचीत के तौर-तरीक़ों से भले आदमी नहीं लग रहे थे. बाहर उन लोगों का जो भी रुतबा होगा, उस कमरे में वे सभी पिद्दी थे. कमरे में उन लोगों के चेहरों पर मुख्यमंत्री के प्रति आतंक-मिश्रित आदरभाव था. मुझे यह देखकर अचंभा हुआ कि उन्हीं लोगों में मेरे जवार का वह 'समाज-सेवक' भी था. वह मुझे पहचानकर भी नहीं पहचानने का अभिनय कर रहा था.

मैं मुख्यमंत्रीजी के पांव पर गिरकर कब गिड़गिड़ाने लगी, मुझे पता ही नहीं चला ! मैंने यह भी नहीं देखा कि मेरा बेटा कब उनके पांवों पर लोटने लगा था.

इससे मुख्यमंत्री जी चिहुंक उठे. उन्होंने मेरे बेटे को पांवों पर से उठाकर उसको निहारा, उसके चेहरे और सिर पर हाथ फेरकर दुलारा, फिर उगलदान में पान की पीक उगलकर छाती पर फीते से लटक रहे चश्मे को आंखों पर चढ़ाया - 'बड़ा प्यारा बच्चा है. किस क्लास में पढ़ते हो, बेटे ?' उनके शब्दों में मेरे बच्चे के प्रति लाड़ उमड़ा पड़ रहा था, जैसे. मगर बच्चा उनके सोफ़े पर बैठने के अंदाज़, बातचीत के लहजे, उस विशाल कमरे में बैठे लोग और कमरे की भव्यता से आतंकित था. वह हक्का-बक्का मुख्यमंत्री जी को निहारे जा रहा था. मुख्यमंत्री ने शायद बच्चे के असमंजस को ताड़ लिया. उन्होंने उसकी तरफ से मुंह फेरकर मुझसे पुछा - 'बतलाओ, तुम कहां से आयी हो ? मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं ?'

मैंने उन्हें अपनी रामकहानी सुनायी. मुख्यमंत्री जी ने मेरी बातें बड़े ध्यान से सुनीं. लगा, वे मेरी रामकहानी से द्रवित हुए हैं. मुझे लगने लगा कि सैकड़ों साल पुरानी मेरी पीड़ा का अंत अब होने ही वाला है.

वे अब काफी गंभीर लग रहे थे. कमरे में बैठे हुए लोग उनके चेहरे को निहार रहे थे. कमरे में थोड़ी देर को चुप्पी छा गयी थी. सिर्फ़ कमरा ठंडा करने वाली मशीन की हल्की आवाज़ के अलावा वहां कुछ नहीं था.'

'हूं...' मुख्यमंत्री जी ने एक लंबी हुंकार ली.

'तुम्हारी समस्या तो सचमुच गंभीर है.'

उनकी बात से चिंता झलक रही थी.

'हां, सरकार, सचमुच यह एक गंभीर समस्या है - कमरे में बैठे कई लोग एक साथ बोल पड़े.'

मुख्यमंत्री जी ने उनकी तरफ ताका तो वे सभी अपनी-अपनी सीटों में ऐसे धंस गये, जैसे वहां कभी थे ही नहीं.

'हां, तो तुम्हारी जाति क्या है ? उन्होंने मुंह में पान की गिलौरी डालते हुए पुछा.'

'मेरी कोई जाति नहीं है, सरकार ! मैं तो मिट्टी हूं. मिट्टी की भी कोई जाति होती है ? -मैंने हिम्मत जुटाकर कहा.'

'ए पंचो, हई देखीं, हाड़-मांस की यह औरत कहती है कि मैं मिट्टी हूं. मेरी कोई जाति नहीं. अरे, हम सभी लोग तो माटिये के बने हैं न ? तो क्या हम लोगों की कोई जाति नहीं है ?' - मुख्यमंत्री जी ने बड़े ही व्यंग्यात्मक लहजे में बोलते हुए कमरे में बैठे लोगों की तरफ़ समर्थन युक्त प्रतिक्रिया की उम्मीद में ताका.

'उन लोगों को संदेश मिल गया. वे सभी उनके सुर में सुर मिलाकर चहकने लगे - 'जाति किसकी नहीं होती ? आदमी है तो उसकी जाति भी होगी ही !'

'मैंने उनकी बातों पर कान नहीं दिया. वस्तुतः वे सभी मुख्यमंत्री जी के दरबारी थे. वे दरबार की हर मुद्रा से परिचित थे. कब उन्हें चुप रहना है, कब बोलना है - यह वे बख़ूबी जानते थे.'

'इसी बीच मुख्यमंत्री जी को कुछ याद आया और उन्होंने कमरे में बैठे आदमियों में से एक से कहा कि - 'तनी भदइया

के फोन लगावत ऽ. ए घरी सरवा बड़ा ईमानदार बनता ! ओकरा के बतावे के परी ओकर असली औकात.'

उस आदमी ने फोन का नंबर मिलाकर चोंगा मुख्यमंत्री जी को थमा दिया - 'लिहल जाव सरकार रिंग होता.'

'उन्होंने फोन का चोंगा कान से लगा लिया - 'हेलो, के बोलता ? भदई ?...का हो, ए घरी बड़ा ईमानदार वनऽ ता रऽ. आजकल अख़बार, टी. वी., रेडियो में बड़ी चर्चा हो रही है आपकी - भदई राम भ्रष्टाचार के ख़िलाफ आंदोलन करेंगे, 'भदई राम सरकारी भ्रष्टाचार को समूल उखाड़ फेकेंगे.' - ये सब क्या है ? आपन औकातवा भूल गये का ? इसी भ्रष्टाचार से आप मंत्री बने हैं, यह मत भूलिए, अब तक आप सेक्रेटरियट में किरानीगिरी करते होते. ...तऽ कनवा खोलकर सुनल ऽ. अपने औकात में रहिए, नहीं तो जानत हैं न पुरनका केसवा के फइलवा अबहीं मेरे पास ही हैं' - यह कहकर मुख्यमंत्री जी ने फोन पटक दिया. कमरे में बैठे दरबारी एक-दूसरे का मुंह निहारने लगे. वे शायद इस अवसर के लिए उचित शब्द तलाश रहे थे.

'मुझे बड़ा अचरज हो रहा था. मुख्यमंत्री जी अपने एक मंत्री मंडलीय सहयोगी से जिस अंदाज़ में बतिया रहे थे, वैसे तो कोई अपने घर के नौकर से भी नहीं बतियाता होगा. दरबारियों के लिए यह कोई नयी बात नहीं थी. वे मुख्यमंत्री जी की इस मुद्रा से परिचित लग रहे थे.'

'हूं....... तो तुम चाहती हो कि तुम्हारा मरद परदेस नहीं जाय, वह घर पर ही रहे. उसे यहीं पर काम-धंधा मिले. यहां कल कारख़ाने खुलने चाहिऐ, यही न ?'

'मैं चुप थी.'

'हई देखीं, इसका मरद परदेस गया है कमाने. यह साल-छह महिना बिना मरद के रह नहीं सकती. कैसी औरत है! अरे, तुमसे अच्छी तो रंडी-पुतरिया होती है. वह भी मर्द के लिए इतना बेचैन नहीं रहती होगी. अरे, तुम्हारा मरद परदेस गया है, तो हम तुम्हारा मरद बनकर तुम्हारे साथ सोयें क्या ? घर में देवर-ओवर नहीं है ? आरे, ऊ गीतवा तुमने नहीं सुना है क्या ? -

"पिया परदेसे देवरवा घरे नाहि,
सुतलऽ भसूर के जगाईं कइसे,
लागल फुफुती में आग बुताई कइसे ?"

'मुझे तो जैस काठ मार गया. मैं समझ नहीं पा रही थी कि एक राज्य का मुख्यमंत्री इतना अशिष्ट, भदेस और संस्कारहीन हो सकता है. लंपटता की हद थी यह ! उसने भरी महफिल में मुझे नंगा कर दिया था, मेरे ही बेटे के सामने. मैं लाज के मारे गड़ी जा रही थी. उस ठंडे कमरे में मैं पसीने से लथपथ हो रही थी. मैंने सुना था कि भर महफ़िल में दुःशासन ने द्रौपदी का चीरहरण किया था, मगर श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को विवस्त्र होने से बचा लिया था. मैं दरबारियों से भरे उस भव्य महल के शीत-

ताप नियंत्रित कक्ष के मध्य लाचार खड़ी थी और दुःशासन मुख्यमंत्री मेरा चीरहरण कर रहा था, मगर मेरी सहायता को वहां कोई श्रीकृष्ण नहीं था.'

'दरबारियों को संदेश मिल गया. उस आलीशान कमरे में अश्लील ठहाका गूंजने लगा था, जिसमें हवा ठंडा करने वाली मशीन की आवाज़ दब गयी थी.'

मैंने झटके से बेटे का हाथ पकड़ा और कमरे के बाहर हो गयी. दरवाज़ा खोलते समय एक अश्लील आवाज़ मेरे कानों से टकराई थी - 'सरकार, इसे जाने क्यों दे रहे हैं ? बेचारी बड़ी दुखी है. आखिर हम लोग किस दिन काम आयेंगे.'

मैं राजधानी की पक्की सड़क पर बच्चे का हाथ थामे भाग रही थी. बदहवास-सी. मैं ग्लानि, लज्जा, क्षोभ और अपमान से मरी जा रही थी. मैं जल्द-से-जल्द राजधानी से बाहर निकल जाना चाहती थी. मुझे लग रहा था कि अगर मैं जल्दी नहीं भाग निकली, तो मुख्यमंत्री के आदमी मुझे पकड़ ले जायेंगे.

मुख्यमंत्री और उनके गुर्गों की आवाज़ें मेरा लगातार पीछा कर रहीं थीं.

'यह साल-छह महीना मरद के बिना नहीं रह सकती क्या!'

'कैसी औरत है, अरे तुम्हारा मरद परदेस गया है, तो हम तुम्हारे साथ सोयें क्या ?'

'घर में देवर-ओवर नहीं है ?'

'लागल फुफुती में आग बुताई कइसे ?'

'अरे, तुमसे अच्छी तो रंडी-पुतरिया होती है.'

'बेचारी बड़ी दुखी है. आखिर हम लोग किस दिन काम आयेंगे ?'

यह कहते-कहते युवती चुप हो गयी थी. उसकी आंखें मेरे चेहरे पर स्थिर थीं. वे मेरी प्रतिक्रिया जानना चाहती थीं और मैं उनसे बचना. कमरे की हवा अचानक बोझिल हो उठी थी, जिसमें सांस लेना मेरे लिए मुश्किल हो रहा था. यह मेरे लिए अग्नि-परीक्षा का समय था. मैं अपनी क्लीवता को बौद्धिक छद्म से ढंकने के लिए शब्द तलाश रहा था.

'आप कुछ बोलते क्यों नहीं ?' कमरे की चुप्पी को भेदकर उसकी आवाज़ गूंजी है.

......

मुझे लग रहा है, कलेंडर की मोहक नारी-छवि मेरी दयनीयता पर व्यंग्यात्मक हंसी हंस रही है. इस समय मैं लाचार हूं. लगता है, मैं शत्रुओं से घिर गया हूं और किसी भी क्षण वे मेरी बोटी-बोटी कर देंगे. मेरे निकल भागने के सारे दरवाज़े बंद हो चुके हैं.

इस औरत ने मुझे नंगा कर दिया है. मुझे अपने नंगेपन को ढंकने के लिये कपड़ों की नहीं, शब्दों की ज़रूरत है और शब्द मुझे मिल नहीं रहे.

मुझे सहसा याद आता है कि जब आदमी सामने वाले के आगे हारने लगता है, उसकी सारी तर्क-शक्ति जवाब दे चुकी होती है, तो आक्रामकता का सहारा लेकर वह विकट स्थिति से बच सकता है.

तो क्या इस समय मुझे भी आक्रामक हो जाना चाहिए और इसे धक्के देकर कमरे से निकाल दूं - 'भागो यहां से. मैंने तुम्हारा ठेका नहीं ले रखा है.' ठीक ऐसा ही तो मुख्यमंत्री ने किया है.

नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकता. फिर मुझमें और उस गंवार मुख्यमंत्री में क्या फ़र्क रह जायेगा ?

'लेखक साहब, कुछ बोलिए.'

उसके शब्द कोड़े बनकर मेरी पीठ पर बरसे हैं, मगर मैं ख़ुद को भरसक संयत रखने का प्रयास कर रहा हूं. नहीं, आक्रामकता को आत्मरक्षा का कवच बनाना कम-से-कम इस वक़्त उचित नहीं होगा. मुझे शालीनता से काम लेना चाहिए.

'सुनो, मुख्यमंत्री ने तुम्हारा नहीं, अपनी मां की लाज को उघार किया. तुम तो माटी हो, हमारी मां हो. हम सभी तुम्हारे बेटे हैं. तुम्हारे शील की रक्षा तो हम सभी का कर्तव्य है. बेटा भला मां के प्रति उतना निष्ठुर और असभ्य आचरण कर सकता है, यह तो मैं सोच भी नहीं सकता.'

युवती पर मेरी बातों का अनुकूल असर पड़ा है. वह कुछ सहज दिख रही है, मानो उसके घाव पर किसी ने मरहम लगा दिया है. लगता है, बहुत दिनों के बाद उसके दर्द को किसी ने महसूस किया है. शायद उसकी आत्मा इस तरह के शब्द सुनने के लिए आतुर थी. मुख्यमंत्री और उनके गुर्गों ने उसकी आत्मा पर जो खरोंचे डाली थीं, उसका एकमात्र निदान सहानभूति का शीतल लेप हो सकता था.

उसका बेटा कभी उसको और कभी मुझको लगातार घूर रहा था.

'मैं बहुत उम्मीद लेकर आपके पास आयी हूं. सैकड़ों सालों से मेरा शोषण हो रहा है. मैं तार-तार हो चुकी हूं किसी ने मेरे दर्द को नहीं समझा. सभी ने मेरी मज़बूरी का लाभ उठया. आप कुछ ज़रूर कीजिए.'

'देखो देवि, तुमसे भी ज़्यादा मजबूर मैं हूं. मैं तो एक अदना-सा लेखक हूं. ज़्यादा-से-ज़्यादा तुम्हारी मजबूरियों पर मैं एक कविता, कहानी, निबंध या किसी अख़बार के संपादक के नाम पत्र लिख सकता हूं. मगर क्या इससे तुम्हारा दर्द दूर हो सकता है ? तुम देश के प्रधानमंत्री के पास क्यों नहीं जाती ? वे हर तरह से सक्षम व्यक्ति हैं. वे अगर चाहें तो सदियों की तुम्हारी पीड़ा को मिनटों में दूर कर सकते हैं. बस, समझ लो कि उनके पास जादू की छड़ी है.'

उसका चेहरा फिर तन जाता है. क्षण भर को वह अपने बेटे की तरफ देखती है, जो मेरी किताबों वाली आलमारी में लगे शीशों के पार सजी किताबों को अब निहार रहा है. वह उसको वहां से हाथ के इशारे से पास बुलाना चाहती है, मगर मैं मना कर देता हूं. 'छोड़ दो उसे, खेलने दो, बड़ा प्यारा बच्चा है.'

'हूं......'

एक लंबी-सी 'हूं' उसके मुंह से व्यंग्यात्मक मुस्कान में लिपटी हुई निकली है, जो मेरे भीतर तीर-सी धंसती हुई उतर जाती है. इस एक 'हूं' में अनेक-अनेक अर्थ-संदर्भ लिपटे हैं. मैं इनको समझना चाहता हूं, 'डि-कोड' करना चाहता हूं, मगर असमर्थ हूं.

'हूं,' से तुम्हारा आशय क्या है, देवि ? क्या मुझसे कुछ भूल हुई है ?'

'बड़ा प्यारा बच्चा है'- जैसे कुछ याद करती-सी स्वगत बुदबुदाई है.

'सचमुच प्यारा बच्चा है, इसमें दो राय नहीं.'

'यही तो रोना है. बच्चे को देखकर यही बात उस दिन मुख्यमंत्री ने भी कही थी और प्रधानमंत्री जी ने भी कही थी और आज आप भी कह रहे हैं, मगर इसका भविष्य क्या है, आप भी कह रहे थे, मगर इसका भविष्य क्या है, आपने कभी सोचा है?'

युवती की ये बातें मेरे गाल पर चांटे-सी लगती हैं. मैं तिलमिला उठता हूं. मैं युवती को जितनी सीधी-सादी समझता था, वास्तव में वह है नहीं. ज़िंदगी के खट्टे-मीठे अनुभवों से गुज़र कर वह काफ़ी समझदार हो गयी है.

'तो क्या तुम प्रधानमंत्री जी के पास भी गयी थीं ? यह बात तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताई ?'

पाठकों, प्रधानमंत्री जी से इस युवती की क्या बातें हुईं, यह मैं नहीं जानता. आगे हम उन्हें युवती के मुंह से ही सुनेंगे, मगर मुख्यमंत्री और मैं, दोनों ही एक-जैसे हैं. मुख्यमंत्री जी का भदेसपन, उनकी संस्कारहीनता और आभिजात्य के छद्म में लिपटे मेरे क्लीवतापूर्ण शब्द, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं. दोनों ही दायित्वों से भागने के अपने-अपने तरीक़े हैं.

मुझे लगता है, किसी ने मुझे पंखे से लटका दिया है. मैं पंखे से लटका तेज़-तेज़ चक्कर काट रहा हूं और यह युवती मुझ पर अट्टहास कर रही है.

'सुनो देवि, प्रधानमंत्री जी बड़े भले आदमी हैं. उनसे तुम्हारी मुलाक़ात ज़रूर सफल रही होगी.'

'तो सुनिए लेखक जी, मुख्यमंत्री-निवास से निकलकर राज्य की राजधानी की सड़कों पर बेतहाशा भागते-भागते सहसा मुझे ख़्याल आया कि क्यों न प्रधानमंत्री जी का दरवाज़ा भी खटखटा लिया जाये. और मैं पहुंच गयी थी देश की राजधानी में प्रधानमंत्री जी के आवास पर.'

यह कहते-कहते वह थोड़ा रुकती है, मेरे चेहरे को पढ़ने की कोशिश करती है, जहां आगे क्या हुआ का भाव है.

'क्या पानी पियोगी, प्यास लगी है ?'

'जी - नहीं'- वह संक्षिप्त-सा उत्तर देती है. फिर बोलने लगती है.

'आपने ठीक ही कहा. प्रधानमंत्री जी बड़े भले आदमी लगे. उन्होंने मेरे बेटे का नाम पूछा, उसकी पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछा और अपने सेवक से मेरे बेटे के लिए चाकलेट मंगवाकर दिया. फिर वे मुझसे थोड़ा बैठने को कहकर फोन पर चैन्नई किन्हीं सवितादेवी से बात करने लगे. प्रधानमंत्री जी फोन पर गिड़गिड़ा रहे थे जैसे - "मैडम, मेरी मजबूरी तो समझिए. मैं तो अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश कर रहा हूं, मगर..नहीं-नहीं, समर्थन वापस मत लीजिए, प्लीज ! मैं अपने दो मंत्री भेज रहा हूं... क्या कहा ? 'महाजन' का मुंह देखना नहीं चाहतीं ?...नहीं-नहीं...हां-हां. ओ. के. जी ठीक है. जैसा आप चाहेंगी, वैसा ही होगा...क्या कहा ? ... बहुत तंग कर रहा है ? ...मैं उसका तबादला करवा दूंगा. ...मैडम...हां-हां. थोड़ा धीरज रखें. समर्थन वापस न लें....प्लीज. सरकार ख़तरे में पड़ जायेगी.'

युवती हाथ को फोन के समान कान से सटाकर बोल रही है. उसके इस अभिनय पर मुझे हंसी आती है, मगर मैं हंसी रोक लेता हूं.

वह थोड़ा रुककर फिर बोलने लगती है.

'थोड़ी देर बाद प्रधानमंत्री जी कोलकाता किन्हीं कविता जी से फोन पर बात करने लगे. यहां भी वही रोना-धोना, चिरौरी-बिनती, मान-मनौवल, गिड़गिड़ाना -'सुनिए, कविता जी, आप हमारी लाचारी को समझिए. चीज़ों के दाम नहीं बढ़े होते,

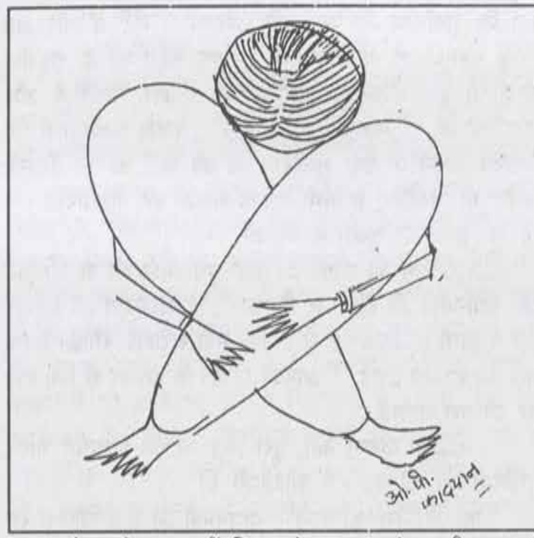

अगर मौसम ने दग़ा नहीं किया होता...हम तो अपनी तरफ़ से कोशिश करते ही हैं. ...ठीक है...हां-हां...नहीं-नहीं... आप पर ही सरकार टिकी है. जी...मुझे आप पर भरोसा है. ...नहीं-नहीं...प्लीज. समर्थन वापस ले लेंगी तो कैसे चलेगा. ठीक है, ठीक है. आप जैसा चाहेंगी, वैसा ही होगा... भरोसा रखें.'

'फोन' वाली हथेली को उसने कान से हटा लिया है.

'लेखकजी, मैं तो दंग थी. प्रधानमंत्री जी उस समय कितने लाचार-बेबस और बौने लग रहे थे सविता जी और कविता जी के सामने. लगता था, अगर इस समय दोनों देवियां कमरे में उपस्थित होतीं तो प्रधानमंत्री जी उनके पांवों पर लोट पड़ते. कोई आदमी इतना कमज़ोर व असहाय हो सकता है, इसका अहसास मुझे ज़िंदगी में पहली बार हो रहा था. देश की एक ऊंची कुर्सी पर बैठा आदमी और इतना लाचार ! इनके गिड़गिड़ाने से लगता था कि दुनियां के सारे पाप इन्हीं ने किये हैं.'

'थोड़ी देर बाद कमरे में पचपन-साठ के एक सज्जन सफ़ेद पैंट और बंद गले का कोट पहने दाखिल हुए. उनके सिर पर पहाड़ी इलाक़ों में पहनी जाने वाली टोपी थी. कक्ष में उनके प्रवेश करते ही प्रधानमंत्री जी अपने आसन से उठकर तपाक से गले मिले- 'कहिए सुखीरामजी, कब आये शिमला से ? अरे फोन कर देते एयरपोर्ट से. हम गाड़ी के साथ अपने सेक्रेटरी को भेज देते.' प्रधानमंत्री जी के मुंह से अचानक फूल झड़ने लगे थे. थोड़ी देर पहले के तनाव, खीज़ और बेबसी के भाव उनके चेहरे से गायब हो चुके थे और वहां एक ख़ुशनुमा मौसम थिरकने लगा था. मैं इस बदलाव पर हैरान थी. 'कहां उठाऊं, कहां बिठाऊं'-के अंदाज में वे सुखीराम जी की आव-भगत में लग गये. मैं चुपचाप कमरे में बैठी उनकी बातें सुनती रही. इनकी बातों से मुझे जान

पड़ा कि सुखीराम जी पहले की सरकार में मंत्री थे और अब किसी महा-घोटाले के महानायक हैं. प्रधानमंत्री जी के सहयोग से ही वे इस घोटाले के महाजाल से निकल सकते थे और प्रधानमंत्री जी की मजबूरी थी कि उनकी सरकार अल्पमत में थी, जिसको चलाने के लिए सुखीराम जी की पार्टी की भी बैसाखी चाहिए थी. इसीलिए वे कभी सविता-कविता की गोड़धरिया कर रहे थे, तो कभी सुखीराम जी की.'

'सुखीराम जी काफी देर तक प्रधानमंत्री जी से बतियाते रहे. प्रधानमंत्री जी चेहरे पर विनम्रता ओढ़े सुखीराम जी की हर बात में हां-में हां मिला रहे थे - 'आप मेरी सरकार बचाइए अपनी पार्टी का समर्थन देकर, मैं आपको घोटाले के दलदल से निकालने की कोशिश करूंगा.'

'कोशिश करूंगा नहीं, पूरी तरह निजात दिलायेंगे आप'- सुखीराम जी की बातों में सौदेबाजी थी.

'हां जी, वैसा ही होगा' - प्रधानमंत्री जी जैसे घिघिया रहे थे.

'देखिए प्रधानमंत्री जी, मैं इस हाथ दो, उस हाथ लो में विश्वास करता हूं. मैं समझता हूं आप मेरा अभिप्राय समझ गये होंगे,' - सुखीराम जी ने अपनी बात स्पष्ट की.

'हां, समझ गया, समझ गया. आप जैसा चाहते हैं, वैसा ही होगा... तो क्या मैं आप का समर्थन पक्का समझूं ?'

'यह मैं निश्चित तौर पर कैसे कह सकता हूं ? यह तो आपकी सरकार का मेरे प्रति रुख़ पर निर्भर करेगा,' यह कहकर सुखीराम जी उठकर चल दिये. प्रधानमंत्री जी हाथ जोड़े उनके पीछे-पीछे दरवाज़े तक गये और आगे बढ़कर झट से कमरे का दरवाज़ा खोल दिया. सुखीराम जी तीर की तरह निकलकर अपनी कार में बैठ गये, बिना किसी शिष्टाचर प्रदर्शन के.'

'मुझे बड़ा अजीब-सा लग रहा था. लेखक जी, यहां घोटाले का एक अभियुक्त देश के प्रधानमंत्री से धमकी-भरे अंदाज में बतिया रहा था, अशिष्टता से पेश आ रहा था, ब्लैकमेल कर रहा था और प्रधानमंत्री उसके सामने हाथ जोड़े घिघिया रहा था, 'हां जी, हां जी' कह रहा था. मेरे सामने देश का प्रधानमंत्री नहीं, देश का सबसे असहाय और कमज़ोर आदमी था.

'सुखीराम जी को विदाकर प्रधानमंत्री जी अपने आसन पर आ विराजे.' कहो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं,' के अंदाज़ में उन्होंने मेरी तरफ़ देखा. मैं फिर भी ख़ामोश रही. उस समय वे काफ़ी थके-थके-से लग रह थे. मैं अपनी तकलीफ़ें बतलाकर उनकी परेशानी नहीं बढ़ाना चाहती थी. मुझे लग रहा था कि इस वक़्त प्रधानमंत्री जी को आराम की सख़्त ज़रूरत है. मैं ग़लत वक़्त पर आ गयी हूं.'

'मुझे ख़ामोश देखकर आख़िरकार उन्होंने पूछ ही लिया - 'कहो देवि, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूं ?

'यह प्रधानमंत्री जी की महानता थी कि इतनी व्यस्तता और तनाव के बीच भी मेरे प्रति सदय थे.'

'बस, आपके दर्शनों को चली आयी' - और मैं बेटे का हाथ पकड़कर दरवाज़े की तरफ बढ़ गयी.'

'तुमसे मिलकर बड़ी ख़ुशी हुई. कभी-कभी इसी तरह आ जाया करो. हां, इस बच्चे का ख़्याल ज़रूर रखना. बड़ा प्यारा बच्चा है,'- प्रधानमंत्री ने कहा.

'उनकी बातों से अमृत बरस रहा था. उनके चेहरे पर पता नहीं कहां से मुस्कान की एक हल्की रेखा खिंच गयी थी. उस समय वे मुझे दुनियां के सबसे बड़े सदय व भद्र पुरुष लग रहे थे.'

'तो तुम प्रधानमंत्री से बिना कुछ कहे चली आयी ?'

'हां !'

'आख़िर क्यों ?'

'आप ही बताइए, मुझे कुछ कहना चाहिए था ?'

'इसलिए कि वे देश के प्रधानमंत्री हैं, सक्षम हैं. उनसे हम अपनी समस्याएं नहीं कहेंगे तो भला किससे कहेंगे ?'

'वे देश के प्रधानमंत्री ज़रूर हैं, पर सक्षम नहीं दिखे मुझे. आप ही बताइए, मैं भला उस आदमी से अपनी मजबूरियों का बयान कैसे कर सकती थी, जो ख़ुद ही मजबूर था और दूसरों के आगे सहायता और समर्थन के लिए हाथ पसार रहा था, उसकी हर जायज़-नाजायज़ मांग को मानने के लिए मजबूर था. मैं उस लाचार आदमी के आगे आंचल पसारकर भला क्या पा सकती थी. उलटे उनकी परेशानी और बढ़ाती. वे दया के पात्र थे. इसलिए मैंने वहां से चले आना ही उचित समझा.'

'यह तो बहुत ही बुरा हुआ. तुम्हें इस तरह कुछ भी कहे बिना वापस नहीं आना चाहिए था. वे ज़रूर तुम्हारी मदद करते.'

'आप चाहे जो कहें, लेखक साहब, प्रधानमंत्री जी मुझे बड़े बेबस व लाचार आदमी लगे. वे भला मरी मदद क्या करते. मैंने तो सुना है, जहां तलवार हार जाती है, वहां क़लम जीतती है. आप तो क़लम-वीर हैं. अब आप ही कुछ कीजिए.'

'देखो देवि, शायद तुम नहीं जानती, हमारे प्रधानमंत्री के पास कलम और तलवार, दोनों हैं. वे दोनों के वीर हैं. मैं तो अब भी तुमसे कहना चाहूंगा की एक बार तुम उनसे फिर मिलो.'

'तो सीधे क्यों नहीं कहते, लेखक साहब, कि आप भी मेरी मदद नहीं कर सकते. आप भी प्रधानमंत्री जी की तरह ही असहाय और असमर्थ हैं.'

'देखो देवि, मुझे थोड़ा समय चाहिए. मैं तुम्हारे ऊपर एक कहानी लिखूंगा, यह वादा रहा.'

'हां, क्यों नहीं, क्यों नहीं !'

उसके शब्दों के व्यंग्य कोड़े बनकर मेरी पीठ पर दनादन बरस रहे हैं. मैं तिलमिला उठता हूं. ग्लानि से मेरा गला सूखने

लगा है. मैं गला तर करने के लिए पानी की तलाश में किचन रूम में चला जाता हूं.

वापस आता हूं तो मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती. कमरें में न तो युवती है, न उसका बेटा !

तो आख़िर दोनों चले गये ? मैं अपने - आपसे पूछता हूं. आख़िर वे गये कैसे ? न दरवाज़ा खोलने-भेड़ने की आवाज़ न पदचाप !

तभी मुझे युवती के कहे शब्द याद आते हैं - 'मैं तो मिट्टी हूं. मिट्टी को किसी लेखक के अध्ययन-कक्ष में आने के लिए दरवाज़े की ज़रूरत होती है क्या ?

(पाठकों, यह घटना सात साल पहले की है. मैंने अपनी लोक-नायिका से वादा किया था कि उसके बारे में मैं एक कहानी ज़रूर लिखूंगा. मगर आज तक मैं अपना वादा पूरा नहीं कर सका. इस बात का मुझे खेद है. यह मेरे ऊपर लोक-नायिका का ऋण है. मुझे जल्द से जल्द इस ऋण से उऋण हो जाना चाहिए.

देखिए न, कहानी लिखने की सोच ही रहा था कि इसी बीच मुझे गांव जाना पड़ रहा है. जो काम मैं सात वर्षों से नहीं कर पाया, उसे कुछ हफ़्तों तक और टाल देने से कोई पहाड़ थोड़े टूट पड़ेगा.)

❐

गांव आये मुझे लगभग एक महिना हुआ. इसी बीच राज्य में विधान सभा के चुनाव का बिगुल बज चुका है. राज्य का सामाजिक राजनीतिक माहौल सहसा गरमा उठा है. संबंधों के नये-नये समीकरण बन-बिगड़ रहे हैं. कल के दोस्त आज जानी दुश्मन हो रहे हैं और दुश्मन गलबहियां डाले घूम रहे हैं. गांव में जो थोड़ी-सी भी हैसियत रखता है, उसकी पूछ इन दिनों बढ़ गयी है. नये समीकरणों के आधार पर कहीं पुराने मुकदमें सलट रहे हैं, तो कहीं नये मुक़दमें ठेके जा रहे हैं. इन दिनों एक अजीब सक्रियता में जी रहा है मेरा गांव. लगता ही नहीं, कल तक यही गांव दिन के बारह बजे रात का अंधेरा ओढ़कर सोता था. मेरे गांव के बारे में निम्न पंक्तियां कितनी सटीक लगती हैं -

'योजनाओं की फटी चटाई पर सोया/आश्वासनों के मीठे सपने/देख रहा है मेरा गांव/ छेड़ो मत/ सोने दो इसे.'

वही गांव चुनाव की रणभेरी सुनते ही इतना सक्रिय, इतना जागरूक सहसा कैसे हो गया, सोचकर अचरज होता है. यह सक्रियता, जागरूकता किसी सामाजिक उत्थान के लिए नहीं, व्यक्तिगत शुभ-लाभ की भावना से प्रेरित है. सामाजिकता से इसका लेना-देना नहीं. इसने पूरे गांव की हवा को प्रदूषित कर दिया है -

"आंगन के दुअरा से बोलचाल बंद,
प्रेम-सद्‌भाव के टूटि गहल छंद,
गांव पर चुनाव बन आइल कहर !
भोट सब लूटि लिहलस चैन आउर सुख,
हर चेहरा आज अइल तनल बनूख
गरमी से सूख गइल गांव के नहर."

मेरा गांव जिस विधानसभा क्षेत्र में पड़ता है, उसमें इस बार विशेष सक्रियता देखी जा रही है. कारण कि इस बार सत्ताधारी पार्टी से एक उमीदवार चुनाव-मैदान में है. वह मुख्यमंत्री जी का सजातीय तथा विशेष कृपा पात्र है. यह वही 'समाज-सेवक' है, जिससे मुख्यमंत्री जी से मिलने के पहले मेरी लोक-नायिका मिलने गयी थी. आख़िर उसकी तपस्या रंग लायी और इस बार उसको टिकट मिल ही गया. उसके बारे में कहा जाता है कि मुख्यमंत्री के अंतःपुर तक जिन मुट्ठी भर लोगों की पहुंच है, वह उन भाग्यशालियों में से है. इस उम्मीदवार के चुनाव में मुख्यमंत्री जी व्यक्तिगत रूप से दिलचस्पी ले रहे हैं. यह ऐसा उम्मीदवार है, जिसके जीतने या हारने से मुख्यमंत्री जी का राजनीतिक कैरियर प्रभावित हो सकता है. इसलिए इस चुनाव-क्षेत्र के लिये मुख्यमंत्री जी ने अपने व्यस्त चुनाव-कार्यक्रम में से दो दिन चुनाव-प्रचार के लिए देना तय किया है. इलाक़े में मुख्यमंत्री जी के आने की ख़बर से सत्ताधारी दल के कार्यकर्ताओं में विशेष उत्साह देखा जा रहा है. प्रशासन चौकन्ना हो उठा है. प्रशासन और सत्ताधारी दल की गाड़ियां गांव-गांव साथ-साथ दौड़ रही हैं. इन दिनों सरकारी अफ़सरों से सत्ताधारी दल के कार्यकर्ता 'तुम-तड़ाक' की भाषा में बतिया रहे हैं. अफ़सर छोटे कार्यकर्ता के सामने भी भीगी बिल्ली बने अपमान का घूंट पी लेते हैं. पता नहीं, कौन मुख्यमंत्री या उनके उम्मीदवार का मुंहलगा निकल आये.

❐

आज मुख्यमंत्रीजी आ रहे हैं. बाज़ार के बाहर स्थित अस्पताल के प्रांगण में ग्यारह बजे उनके भाषण का समय तय है. गांव-गांव से लोग आ रहे हैं, झुंड-के-झुंड. भीड़ जुटाने में प्रशासन का विशेष सहयोग है. सभा को सफल बनाने के लिए प्रशासन ने सत्ताधारी दल के इशारे पर लगभग पचास बसें और इतनी ही संख्या में कारों और जीपों को 'सीज़' कर लिया है, जिनका उपयोग दूर-दराज़ के गांवों से लोगों को लाने के लिए किया जा रहा है. सुनते हैं, मुख्यमंत्री जी ने एक सप्ताह पहले डी. एम. को राजधानी से फोन करके हड़का दिया था कि वे किसी भी क़ीमत पर अपनी चुनाव-सभाओं को सफल देखना चाहते हैं. किसी तरह की बहानेबाज़ी नहीं चलेगी. अगर सभाएं सफल नहीं हुई तो पुलिस प्रशासन से जुड़े सबको ऐसी जगह ट्रांसफर कर दूंगा कि नानी याद आ जायेगी. अगर मेरे उम्मीदवार जिले में जीतते हैं, तो मलाईदार जगहों पर पोस्टिंग कर सबको पुरस्कृत किया जायेगा. इसलिए ज़िले में जहां जहां चुनाव-सभा होगी, वहां-वहां प्रशासन को क्या करना है, वह उसे पता होना

चाहिए. मेरे क्षेत्र पर प्रशासन कुछ ज़्यादा ही मेहरबान है, क्योंकि यहां से मुख्यमंत्रीजी का 'ख़ास आदमी' खड़ा है.

जैसी की उम्मीद थी, सभा ख़ूब सफल रही. लगभग पचास हजार लोगों की भीड़ तो होगी ही. सभा स्थल पर मुख्यमंत्री जी लगभग एक घंटा देर से पहुंचे. मुख्यमंत्री जी के आने की ख़बर सुनकर उन्हें देखने के लिए लोग रास्ते के किनारे-किनारे खड़े थे. मुख्यमंत्री जी जहां भीड़ ज़्यादा देखते, वे अपने कारों के काफ़िले को रुकवाते. वहीं गाड़ी में ही बैठे-बैठे भीड़ को नमस्कार करते, तो कहीं नमस्कार की मुद्रा में हाथ जोड़ गाड़ी से उतरते, लोगों से वहां की आंचलिक बोली में हालचाल पूछते, बच्चों को पुचकारते, कुछ कहते, मगर लोग अपनी तकलीफ़ें कहें-कहें, इसके पहले ही वे गाड़ी में बैठकर फुर्र हो जाते. जाते-जाते यह कहना नहीं भूलते कि पार्टी का चिन्हवा याद रखना. अपना छाप इसी चिन्हवा पर मारना है.

यही क्रम हर दस-पांच मिनट के अंतराल पर दोहराया जाता. काफ़िले को रुकवाते समय मुख्यमंत्री जी अपने लोगों से यह जान लेना ज़रूरी समझते कि किस गांव में किस जाति के लोगों की संख्या ज़्यादा है. जातियों के नाम से ही वे समझ जाते कि किस गांव में उनका वोट-बैंक कितना है. जहां उनका वोट-बैंक ज़्यादा दिखता, वहां के लोगों के साथ ज़्यादा आत्मीयता प्रदर्शित करते या घुलने-मिलने का अभिनय करते.

एक जगह बड़ी भीड़ देखकर मुख्यमंत्री जी ने कारों के कारवां को रुकवाया. अपने लोगों से पता चल गया था कि इस गांव में उनका वोट-बैंक नहीं है, फिर भी यह सोचकर कि पता नहीं, ऐन मौक़े पर कौन साथ दे दे, उन्होंने गाड़ी रुकवा दी. लोग-बाग हाथ जोड़े आगे बढ़े. मुख्यमंत्री जी ने हाथ जोड़कर प्रति-नमस्कार किया और गाड़ी से उतर गये.

'सब ठीक-ठक बा नू ?' - उन्होंने ठेठ देहाती अंदाज़ में पूछा. झक-झक कुर्ता पाजामा फीते से बंधा छाती पर झूलत चश्मा. अपने स्वभाव के विपरीत मुख्यमंत्री जी काफी विनम्र और ख़ुशमिज़ाज दिखने की कोशिश कर रहे थे. हालांकि मुख्यमंत्री के व्यक्तित्व का यह स्थायी भाव नहीं था.

'हां हुज़ूर सब त ऽ ठीके बा रउरा किरिपा से, बाकिर गंउवा तक रस्तवा बन जाइत त ऽ बड़ा नीमन होइत'- एक वृद्ध सज्जन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया.

'रस्तवा पर मारुति दउरावे के बा का ?' कगो मारुति कार बाटे तहरा गांव में' - मुख्यमंत्री जी हाथ नचाकर पान की पीक थूककर बोले.

वृद्ध सज्जन सकपकाकर पीछे हट गये.

एक दूसरे बुज़ुर्ग सज्जन ने हिम्मत करके मुख्यमंत्री जी से गुहार लगायी - 'हुज़ूर गांव में बिजली आ जाती तो...'

मुख्यमंत्री जी ने उन्हें बीच में ही रोककर लगभग बिगड़ते हुए पूछा - 'बहुत गर्मी लागता ? एयर कंडीशनर चलावे के बा? फ्रीज बिजली बिना नइखे चलत ? सभवा में चल लोग. चंपाबाई के लहरदार गीत सुनवायेब' - यह कहकर वे गाड़ी में बैठ गये. क़ाफ़िला आगे बढ़ गया. मांगने वालों ने मुख्यमंत्री जी का मूड ख़राब कर दिया था.

वस्तुतः मुख्यमंत्री जी सभा में भीड़ जुटाने के लिए चंपाबाई नामक एक नर्तकी लोकगीत गायिका को अपने साथ रखते हैं. यह लोकगीतों की गायिका-नर्तकी उनके लिए बड़ी भीड़-जुटाऊ साबित होती है.

मुख्यमंत्री जी की सभा भीड़ के हिसाब से काफ़ी सफल रही. लोगों का कहना है कि इतनी भीड़ आज तक किसी भी नेता की सभा में नहीं जुटी थी. आज की सभा से पिछली सारी जन-सभाओं के रिकॉर्ड टूट गये हैं. भला, ऐसा क्यों न हो. धन-जन और शासन जहां मिल जाये, वहां क्या असंभव है ? ऊपर से चंपाबाई का नाच-गाना. चंपाबाई जब मंच पर गा रही थी - 'सइयां मारे तहिया मछरी खियावेला ज़रूर' तो भीड़ जैसे बे-काबू हुए जा रही थी. भीड़ को निमंत्रित करने के लिए बाध्य होकर मुख्यमंत्री जी को पुलिस को हल्के लाठी चार्ज का आदेश देना पड़ा.

सभा में मुख्यमंत्री जी का बड़ा ज़ोरदार भाषण हुआ. जनता उनके भाषाण से गद्‌गद हो उठी. उनके घंटे भर के भाषण में 'सामाजिक न्याय,' 'दलित उत्थान,' 'मंडल आरक्षण' आदि शब्दों की भरमार रही. उन्होंने इस इलाक़े के औद्योगिक विकास पर विशेष ज़ोर दिया, ताकि यहां के श्रम-पलायन को रोका जा सके. लोगों को यहीं काम-धाम मिल सके, लोग अपने परिवारों के साथ रहकर सुखी जीवन बिता सकें, इस पर उन्होंने विशेष जोर दिया. मुख्यमंत्री जी ने अपनी आवाज़ में वेदना भरकर कहा कि, 'जरा सोचिए, जब जवान बाहर नौकरी की तलाश में बाहर जाते हैं, तो उनकी माताओं और पत्नियों के दिलों पर क्या गुज़रती होगी ? आदमी अपने घर-द्वार से बिछुड़ने की पीड़ा से कितना आहत होता होगा ?' - तो तालियों की गड़गड़ाहट से सभास्थल गूंज उठा था.

मैं सभा-स्थल से बाजार के बस-पड़ाव पर आ गया हूं. गांव जाना है, पर चाय की तलब बलबती हो उठी है. मैं पासवाली चाय की दुकान में घुसकर एक ख़ाली बेंच पर बैठ जाता हूं. रास्ते में आम दिनों की अपेक्षा आज इस समय चहल-पहल ज़्यादा है. जनसभा से लौटने वाले लोगों से पूरा इलाका पट गया है. मैं हाथ में चाय का प्याला लिये बाहर का नज़ारा देख रहा हूं. इस चायख़ाने में भी चाय पीने वालों की भीड़ घुस आयी है. मुझे ख़ुशी है कि मैं दो-चार मिनट पहले आ गया, नहीं तो मुझे भी और लोगों की तरह खड़े-खड़े चाय पीनी पड़ती. मेरी नज़र बाहर

एक महिला पर पड़ती है. वह भीड़ से बचने के लिए रास्ते के किनारे खड़ी है. शरीर पर मैली साड़ी और ब्लाउज है, आंखों पर चश्मा है. चश्मा पॉवर वाला ही होगा, क्योंकि देहातों में और वह भी औरतों में शौक़िया चश्मा पहनने का रिवाज अभी शुरू नहीं हुआ है और वैसे भी, पहनावे-ओढ़ावे से यह औरत कमज़ोर आर्थिक वर्ग की लगती है. इसी बीच हवा के हल्के झोंके से उसके माथे से साड़ी थोड़ी-सी ढुलक पड़ती है और उसके सिर के बाल झांकने लगते हैं. बाल लगभग आधे सादे हो चुके हैं. वह चेहरे पर दैन्य, हताशा और करुणा के भाव ओढ़े उत्तर की तरफ़ एक टक निहार रही है, जिधर अभी-अभी एक बस धूल उड़ाती हुई गुज़री है.

मुझे लगता है कि इस औरत को कहीं देखा है. कहां देखा है, कुछ ठीक-ठाक याद नहीं आ रहा. शायद यहीं.....शायद नहीं ! मैं जल्दी-जल्दी चाय ख़त्मकर और पैसे चुकाकर एक जबर्दस्त-उत्सुकता और जिज्ञासा-भाव से खिंचा उस महिला के पास पहुंच जाता हूं. वह अपने-आपको खोयी बस की दिशा में निहार रही है. वह मुझको अपनी तरफ आता देखकर अपनी आंखें आंचल के छोर से पोंछने लगती है.

'लगता है, मैंने आपको कहीं देखा है, मगर कहां, यह मुझे ठीक-ठीक याद नहीं आ रहा. सोचा, चलकर पूछना चाहिए. आप बुरा न मानें...'

वह मुझे पहचान जाती है. प्रणाम में उसके दोनों हाथ जुड़ जाते हैं.

'हां, आप ठीक कह रहे हैं. हम एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हैं. आप कलकत्ते से कब आये ?'

'लेकिन माफ़ कीजिए, मैंने अभी तक आपको पहचाना नहीं.'

'याद कीजिए, आज से दस साल पहले की घटना. मैं यहीं, इसी बस-अड्डे पर अपने बेटे का हाथ थामें आंखों में आंसू भरे अपने आदमी को पंजाब के लिए विदा कर रही थी और आप उसी चायख़ाने में, जहां से आप आ रहे हैं, चाय पीते हुए मुझे निहार रहे थे और याद कीजिए, आज से सात साल पहले जब मैं आप से कलकत्ते में आप के अध्ययन-कक्ष में मिली थी और...'

'बस-बस मुझे सब कुछ याद आ गया. अब आगे बोलने की ज़रूरत नहीं. आप तो काफी...'

'बदल गयी हूं' -यही न कहेंगे आप ? लेकिन आप मुझे 'आप' क्यों कह रहे हैं ? आपके मुंह से मुझे अपने लिए 'तुम' सुनना अच्छा लगता है.

'सुनो, तुम्हारा आदमी कैसा है ? पंजाब से उसकी चिट्ठी-विट्ठी आयी ? बेटे को साथ नहीं लायी ? वह किस क्लास में पढ़ता है ? क्या मुख्यमंत्री जी का भाषण सुनने आयी थी ?'

'......'

वह अपना मुंह दूसरी तरफ फेरकर आंखों में उमड़ आये आंसुओं को साड़ी के पल्लू से पोंछते लगी है.

'मुझसे कुछ गलती हो गयी ? तुम रोने क्यों लगी ?

वह धीरे-धीरे मेरी तरफ घूमती है. उसे ख़ुद को संतुलित करने में काफी कोशिश करनी पड़ रही है. उसके गाल अभी भी

लघुकथा

बेटी

✍ नरेंद्र आहूजा 'विवेक'

मृत्यु शैया पर पड़े रामलाल अतीत की यादों में खो जाते और लेटे-लेटे रोने लगते. पत्नी के देहांत के उपरांत बिल्कुल अकेले पड़ गये. बुढ़ापे की लाठी बेटा तो पढ़-लिख कर कैरियर बनाने प्रेम विवाह करके विदेश जा बसा था. उसकी मां तो बेटे के विछोह में चल बसी थी. वह बहू को कोसती कि उसने अपने रूप जाल में बेटे को फंसा कर इसे बुढ़ापे में हमें बेसहारा कर दिया. पर रामलाल यही मानते थे कि जब अपना सिक्का ही खोटा हो तो दूसरों को क्या दोष देना. ऐसे कठिन समय में बेटी ने ही बेटा बनकर सहारा दिया था. मां की मृत्यु के बाद बेटी जबरन पिता को अपने घर ले आयी थी. बेटी-दामाद के घर का पानी भी न पीने वाले संस्कारी रामलाल ने मजबूरी में इसे स्वीकार कर लिया था. बेटी-दामाद ने अपनी सेवा से रामलाल को द्रवित कर दिया था.

उस दिन रामलाल ने बेटी को अपने पास बैठ कर रोना शुरू कर दिया था. बेटी जितनी सांत्वना देती रूदन उतना बढ़ता जाता था. रामलाल ने बड़े भरे स्वर से बेटी को बताया, "अंतिम समय में मैं अपने मन पर कोई बोझ नहीं रखना चाहता बेटी, मैं तेरा कसूरवार हूं. जब तू मां के गर्भ में थी तब मैंने तेरी भ्रूण हत्या के लिए तेरी मां पर बहुत दबाव बनाया था. पर तेरी मां अड़ गयी थी. कई महीनों तक हम आपस में बोले भी नहीं थे. पर मेरे अंतिम समय में जब बेटे ने धोखा दिया तब तूने मेरी सेवा करके मुझे अपने कर्ज़ के नीचे दबा दिया है. ना जाने किस जन्म में मैं यह कर्ज़ उतार पाऊंगा". कहते-कहते रामलाल सुबक कर रोने लगे थे. "पिताजी आप ऐसा क्यों सोचते हैं मैं तो अपना फ़र्ज़ पूरा कर रही हूं. वर्ना यह बात तो मां ने मुझे बहुत पहले ही बता दी थी." बेटी ने जवाब दिया. बेटी की बात सुनकर रामलाल हतप्रभ रह गये थे. सब जानते हुए भी इतनी सेवा !

१२२, सेक्टर-२८, फरीदाबाद

आंसुओं से भीगे हुए हैं. उसकी आंखें मेरे चेहरे पर टिकी हैं.

पहली बार उसके चेहरे को मैं ध्यान से देखता हूं. वहां उदासी ने अपना डेरा जमा लिया है. उसकी सिंदूर-रहित मांग उसकी ज़िंदगी में आये किसी भयानक हादसे की कहानी कह रही है. मैं किसी अनिष्ट की कल्पना से भीतर-ही-भीतर दहल उठता हूं.

'लेखक जी, आपने एक साथ कई सवाल किये हैं. मैं आपके सभी सवालों के जवाब दूंगी. सुनिए, मैं यहां किसी मंत्री-संत्री से भाषण सुनने नहीं आयी. आपने यह उक्ति तो सुनी ही होगी कि 'भाषण से राशन नहीं मिलता.'

'लेकिन मुख्यमंत्री जी ने आज बड़ा ज़ोरदार भाषण दिया. वे इस क्षेत्र के औद्योगिक विकास पर ख़ास ध्यान देंगे. अब तुम्हारी शिकायत जल्दी ही दूर होगी. लोगों को अब रोज़ी-रोटी के लिए बाहर नहीं जाना पड़ेगा.'

इस पर उसका चेहरा तन जाता है और थोड़ी दर पहले के उसके करुणार्द्र चेहरे पर व्यंग्य उभर आता है. वह स्वगत बुदबुदाती है- 'कोई बहुरूपिया मुख्यमंत्री, जो कमरे में कुछ और है और मंच पर कुछ और, भला अपनी माटी के दर्द को क्या समझेगा. और अपनी गद्दी बचाने के लिए जिसकी-तिसकी गोड़धरिया करने वाले प्रधानमंत्री से भी क्या उम्मीद कर सकती हूं.'

मैं कुछ नहीं बोलता. चुपचाप उसके चेहरे को देखता रहता हूं, जहां व्यंग्य, गुस्सा और तिरस्कार के भाव हैं.

'तो क्या पति को विदा करने आयी थी ? वह सकुशल तो है ?'

मैं बातों का सिलसिला फिर अपने पूछे गये सवालों से जोड़ता हूं. मेरे मन से आशंकाओं के बादल पूरी तरह छंटे नहीं हैं.

'लेखक साहब, मेरा पति अब इन सारे झंझटों से मुक्त हो चुका है. वह अब हमारे बीच नहीं रहा.'

'क्या ? अब वह नहीं रहा! यह कब हुआ ? कैसे हुआ ? तो तुमने मुझे अब तक बतलाया क्यों नहीं ?'

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा. मेरा माथा चक्कर खाने लगा है. मैं दोनों हाथों से अपना माथा पकड़कर वहीं ज़मीन पर बैठ जाता हूं. सारी दुनियां मेरे सामने घूमती-सी लग रही है.

'लेखक साहब, होश में आइए, उठिए. मुझे जल्दी घर पहुंचना है.'

इसकी बातों का मर्म मैं पूरी तरह समझ नहीं पाता. क्या यह मुझ पर व्यंग्य कर रही है ? क्या इसके शब्दों में व्यंग्य-मिश्रित सहानुभूति है ? क्या उस औरत की नज़र में मैं सहानुभूति का पात्र हूं ? वस्तुतः सहानुभूति की पात्र तो यही है.

मेरी उम्मीद के विपरीत उसका चेहरा कठोर हो उठा है. ज़िंदगी के संघर्षों ने उसके भीतर की औरत तो सख़्त बना दिया है. वह धीरे-धीरे ज़िंदगी के ऊबड़-खाबड़ रास्तों से परिचित हो रही है.

मै अपने को संभालने की कोशिश करता हूं. चाहता हूं, खड़े होकर बातचीत के टूटे सिलसिले को जोड़ सकूं. मगर मेरे पांव मेरा साथ नहीं दे रहे.

'आप खड़े तो होइए' - वह फिर बोली है.

मैं काफ़ी कोशिशों के बाद खड़ा हो पाता हूं. घूमती हुई दुनियां थोड़ी थमी-सी लगती है.

'यह सब कैसे हुआ ? कब हुआ ?' मैं उससे फिर पूछता हूं.

'दो साल हुए. मेरा पति पंजाब में उग्रवादियों द्वारा मार दिया गया. वह बस से अपने कुछ साथियों के साथ काम की तलाश में कहीं जा रहा था कि एक सुनसान जगह पर एक जीप ने बस का रास्ता रोक लिया और उसमें से पांच-सात सशस्त्र उग्रवादी उतरे. उन लोगों ने एक ख़ास संप्रदाय के यात्रियों को छांटकर अलग किया, फिर उन्हें कुछ दूर ले जाकर मार डाला. उन अभागे लोगों में मेरा आदमी भी था.

यह कहते-कहते उसकी आवाज़ भर्रा उठी है. थोड़ी देर पहले का उसका कठोर चेहरा आंसुओं से गीला हो रहा था. जिसे वह बार-बार आंचल से पोंछ रही है.

'लेखक साहब, मेरे आदमी और उसके जैसे लोगों का राजनीति से कुछ लेना-देना नहीं था. वे तो इसलिए वहां गये थे ताकि दो जून की रोटी अपने और अपने परिवार के लिए कमा सकें. आख़िर, उन्होंने उन लोगों का क्या बिगाड़ा था ?'

तुम्हारा सवाल जायज़ है, देवि ! इसका जवाब तो पूरे देश को देना है. किसी एक दल या व्यक्ति के लिए इसका हल खोज पाना संभव नहीं.

हमारे बीच का माहौल काफ़ी ग़मगीन हो उठा है. वह अब सुबकने लगी है, मगर उसकी नज़रें मेरे चेहरे पर अटकी हैं. शायद वह वहां अपने सवाल का जवाब तलाश रही है, मगर वहां जवाब नदारद है. मैं इस बहुत भारी हो चुके माहौल में थोड़ा बदलाव लाना चाहता हूं.

'सुनो, तुम्हारा बेटा मुझे बड़ा ही होनहार लगा था. तुम अपना सारा ध्यान उसी पर लगाना. उसे पढ़ाना-लिखाना. उसको आदमी बनाना. उसको देखे बहुत दिन हुए. अब कितने साल का हुआ वह ? किस क्लास में पढ़ता है ? काश, वह भी आज तुम्हारे साथ होता ?'

मैं उसके बेटे के प्रति स्नेह उड़ेलते हुए एक सांस में ये बातें कह जाता हूं.

वह मेरी बातों से अप्रभावित सी लगी है. माहौल पूर्ववत ग़मगीन है. उसके बोलने के अंदाज़ में वही पहले का भारीपन मौजूद है.

'वह थोड़ी देर पहले यहीं तो था. अभी-अभी गया है.'

'कहां गया है ? कितनी देर में आयेगा ? मैं उससे मिलना चाहता हूं. मैं उसका इंतज़ार करूंगा.'

'नहीं लेखक साहब, वह इतनी जल्दी नहीं आयेगा. वह कमाने के लिए पंजाब गया है, अपने बाप के समान. उसी बेटे को मुख्यमंत्री जी ने कहा था कि बड़ा प्यारा बच्चा है. प्रधानमंत्री ने भी कहा था और आपने भी. आप लोगों के उसी 'प्यारे बच्चे' को मैं विदा करने आयी थी. दो दिनों बाद वही 'प्यारा बच्चा' पंजाब के किसी खेत में मजूर का काम कर रहा होगा.'

'यह मैं क्या सुन रहा हूं, भगवन ! तुमने उसे पंजाब भेज दिया ? अभी तो उसके खेलने-खाने और पढ़ने के दिन थे. अभी उसकी उमर ही क्या थी ! ज़्यादा से ज़्यादा पंद्रह का होगा, फिर भी तुमने उसे मौत के मुंह में ढकेल दिया ? तुम मां हो या राक्षसी ?'

वह मेरी बातों से जरा भी विचलित नहीं होती. असमय ही खिचड़ी हो गये सिर के बालों को वह साड़ी को आगे सरकाकर ढंकती है, फिर चश्मे को नाक पर एडजस्ट करती है.

'लेखक साहब, भूख का उमर से कोई रिश्ता है क्या ?'

बड़े ही भोलेपन से पूछा गया उसका यह सवाल मुझे निरस्त कर देता है. मैं जैसे आकाश से ज़मीन पर आ गिरा हूं. मैं लहूलुहान मूर्छित-सा धरती पर लोट रहा हूं और यह औरत मेरी पीठ पर शब्दों के निर्मम कोड़े बरसा रही है - 'हां ! हां ! हां ! मैं हार गयी, भूख जीत गयी !' मैंने बेटे को कमाने के लिए भेज दिया. उसी बेटे को, जिसको मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री और स्वयं इन लेखक महोदय ने भी कह था - 'बड़ा प्यारा बच्चा है.' लेखक जी, भला भूख से उमर का क्या रिश्ता है ज़रा बतलायेंगे? हां ! हां ! हां ! देखो लोगो, मेरा बेटा कमाने गया है और ये लेखक महोदय कहते हैं कि मैंने उसे मौत के मुंह में ढकेल दिया ! ऐसा भला हो सकता है ? एक मां भला अपने जिगर के टुकड़े को मौत के मुंह में ढकेल सकती है ?'

मैं समझ नहीं पाता कि उसको किस तरह चुप कराऊं. कहीं यह पागल तो नहीं हो गयी ! मैंने बेकार ही इसके अंदर के ज़ख़्मों को कुरेदा है. अचानक उत्पन्न हो गयी इस स्थिति के लिए ज़िम्मेवार मैं ख़ुद हूं. मैं उसको झकझोर कर कहना चाहता हूं - 'होश में आओ, देवि. तुम तो एक बहादुर पत्नी और मां हो. होश में आओ.'

मैं उसे पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाता हूं. मगर यह क्या, वह तो कहीं है ही नहीं. तो कहां गयी वह ! किधर गयी !

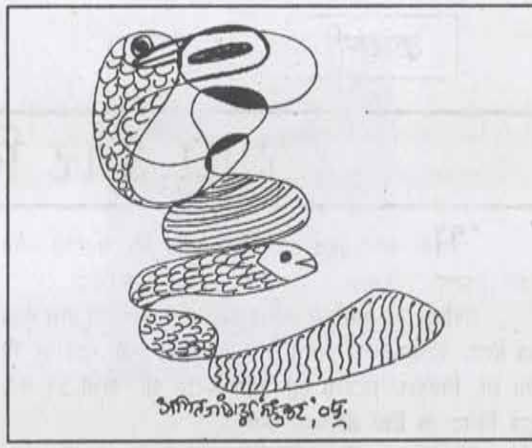

तभी कलकत्ता में कहे उसके शब्द याद आते हैं - मैं तो मिट्टी हूं. मिट्टी हूं. मिट्टी को किसी लेखक के कक्ष में आने के लिए दरवाज़े की ज़रूरत होती है क्या ?

.... तो मिट्टी तो कहीं भी मिल सकती है. मां, बेटी, बहन - किसी भी रूप में. जीवन के किसी भी मोड़ पर हमारा रास्ता रोककर वह अपनी वेदना हमसे कहने लगेगी.

पाठकों, पंद्रह दिन हो गये मुझे गांव से कलकत्ता आये. अपनी माटी से किया गया वादा मैं पूरा नहीं कर सका. इसी बीच मेरे राज्य का चुनाव-परिणाम भी आ गया. मुख्यमंत्री, जिसने राजधानी के अपने आवास पर मेरी नायिका का शीलहरण किया था, का दल भारी बहुमत से विजयी रहा. प्रधानमंत्री अपनी गद्दी बचाने के लिए 'सविता' और 'कविता' की चिरौरी करते हुए आदर्शों और मूल्यों के लिए बड़ी-से-बड़ी क़ुर्बानी देने के लिए लगातार घोषणाएं कर रहे हैं और मेरे जैसे लेखकों में इन बहुरूपियों की चापलूसी में 'चालीसा' और 'पचासा' लिखने की होड़ मची हुई है और चीज़ें दिन-पर-दिन बद से बदतर होती जा रही हैं.

पाठकों ! आप ही बतायें, जहां चीज़ें इस हद तक पहुंच गयी हों कि मानवीय भावनाएं, यथा पत्नीत्व और मातृत्व भूख के आगे हार जाती हों, वहां मेरी एक कहानी भला क्या कर सकती है ! इसलिए अगली बार जब वह मुझसे मिलेगी तो मैं उससे क्षमायाचना करते हुए ये पंक्तियां निवेदित करूंगा -

'भूख पेट की बहुत बुरी है, जो न कराये थोड़ा,
सुबह बनाये गदहा हमको, शाम बनाये घोड़ा.'

मगर क्या इससे मेरी माटी यानि लोकनायिका संतुष्ट हो पायेगी ?

एच-२, टैगोर पार्क (मेन रोड),
नस्करहाट, कोलकाता - ७०० ०३८

कहानी

साधु और बिच्छू की कथा

'भक, अभी बहुत सबेरे है. भर छत तो धूप होगी. लोग हंसेंगे देखकर.' कमला ने यशोधर जी को रोक दिया.

यशोधर जी कमरे में जाकर बैठ गये. पास पड़ा हाथ पंखा उठा लिया. हल्का-हल्का झलने लगे. एक पंखा उनके माथे पर भी टंगा था. निश्चल. बिजली वहां भाग भरोसे थी. कभी आ गयी कुछ मिनट के लिए तो भाग मनाइए.

दिन काटना कठिन हो जाता. दोपहर तो जैसे जम ही जाती. वे चार-पांच घंटे चार-पांच संवत हो जाते. न बैठे चैन, न लेटे. पंखा झलते-झलते हाथ ऐंठ जाते. बार-बार घड़ी देखते. बस एक ही आस होती कि सांझ पड़ते ही छत पर जायेंगे. बार-बार बरामदे पर आकर दिन देखते. पांच बजने के बाद उनकी बेचैनी और बढ़ जाती. बाहर-भीतर करने लगते. और साढ़े पांच बजने के बाद तो छान पगहा तुड़ाने लगते.

'अब धूप मुलायम हो गयी होगी.' यशोधर जी कमरे से बाहर निकत आये, 'और हवा भी तो चल रही है. देखते-देखते धूप बिला जायेगी. ....दुर अब जाते हैं. नीचे तो दम घुटता है...' कहते हुए वे धीरे-धीरे गेट पार कर गये. सीढ़ियों के पास जाते ही उनके पैर तेज़ हो गये. डर था, कमता कहीं टोक न दे.

ऊपर सीढ़ियों की छत तले एक कुर्सी पड़ी थी. उसको उठाकर छत के एक किनारे रखा. धूप वास्तव में बहुत थी. हवा गुम थी सो तीखी भी लग रही भी. वे फिर नीचे उतर आये.

'बहुत धूप है, अभी !' नीचे आकर लजीली-सी हंसी के साथ बोले.

'आपको बोले तो ! मगर आप में तो बच्चों से भी बढ़कर उतावलापन है. बूढ़ा बौआ बन गये हैं. बैठिए चुपचाप घर में. धूप ख़तम होने दीजिए तब जाइएगा ऊपर.

यशोधर जी बरामदे में ही बैठ गये. बैठे रहे कुछ देर.

'हो गयी धूप ख़तम. अब जाते है.' सहसा वे उठे और बाहर निकल गये. 'चाय बन जाये तो घंटी बजा देना.' बोलते हुए दनदनाकर सीढ़ियां चढ़ने लगे.

कमला कुछ न बोली. जानती ती, अब न मानेंगे. उसको भी अच्छा लगता था कि कुछ समय तो कट जाता है. सुख से. शेष समय तो वही घुटन, उमस, ताप और खीज....

यशोधर जी कुर्सी पर बैठे. बैठकर देखा, वे गले तक छाया में थे. सिर्फ़ माथा धूप में था. बस, अब कुछ ही क्षण की मेहमान है धूप. वे आश्वस्त हुए और प्रसन्न. अब कुछ काल सुख में बीतेगा. हालांकि सुख निष्कंटक न होगा. अब पहले जैसा सुख-बोध कहां होता है. एक समय था कि जब वे नीचे से ऊपर आते थे तो लगता था, नरक से स्वर्ग में आ गये. तब वे अक्सर बोला करते थे, 'स्वर्ग और नरक के बीच मात्र दस फिट की दूरी है. मगर अब उनके 'स्वर्ग' का रंग फीका पड़ने लगा है.

सब कुछ तो वही है. मिशन हाता का गुलमोहर. सघन हरीतिमा में गुच्छा-गुच्छा लाल फूल. फूलों से लदे पीले और सफ़ेद कनेर. आस पास फैली हरियाली की कई रंगतें और सामने गंगा. गंगा के आर-पार खुला प्रांतर. सफ़ेद रेत और उसके पार हरी फसलों की पट्टियां. दूर क्षितिज के पास अमराइयों की सीमा रेखा-सी खिंची. घाट पर खड़ा सफ़ेदी पुता मंदिर. पश्चिम दिशा में कुछ घर बाद नारियल के कई पेड़. उनके बीच में ख़ूब फैला हुआ नीम. उन पेड़ों की फांकों से चमकता गंगा का जल. गंगा के ऊपर का गगनांचल डूबते सूरज की अंतिम किरणों द्वारा उकेरी दृश्यावलियों से दमकता हुआ.

डॉ. देवेंद्र सिंह

सब कुछ तो वैसा ही है. फिर उनका स्वर्ग मुरझाने क्यों लगा ? वह इन सब की वजह से न था ? या कि इनके साथ-साथ कुछ और भी था जो.......?

नहीं, सब कुछ वैसा ही नहीं है. बहुत कुछ बदल गया है. बाहर से अधिक भीतर. ....तब उनका घर अपने बच्चों तथा अन्य आश्रितों से भरा होता था. अब ख़ाली है. एक अकेली कमला नीचे है. और ऊपर यशोधर जी.

तब नीचे के 'नरक' का एक कारक भीड़ तथा शोर भी होता था. दो कमरे का घर जनों, सामानों तथा स्वरों से ठसाठस भरा रहता. यशोधर जी घुटते-चिढ़ते रहते.

नीचे घंटी बजी. कमला ने ग्रिल-गेट की सांकल को दो बार बजाया था. यशोधर जी हड़बड़ाकर उठे.

'आ रहे हैं.' बोलते हुए नीचे उतरे.

कमला सीढ़ी के पास एक हाथ में चाय का गिलास और दूसरे हाथ में पानी भरा लोटा लिये खड़ी थी.

'थैंकू!' यशोधर जी ने लोटा-गिलास थामते हुए, स्वर में अतिरिक्त उत्साह भर, टी.वी. वाली लड़की की नक़ल उतारते हुए कहा.

कमला मौन तथा गंभीर बनी रही. यशोधर जी छत पर आकर बैठे. पहले लोटे से पानी पिया. फिर आराम से चाय पीने लगे. एक सांवला-सलोना सौंदर्य शनैः-शनैः उमड़ने लगा था. दसमी का चांद जो अब तक उकना हुआ लगता था, अब चमकने लगा था. तारे भी अब तक टिमटिमाने लगे थे. वे बार-बार चांद को, तारों को, चारों ओर फैले रहस्यमय सौंदर्य को देखते. पर, वह पहलेवाला उन्माद, वह उल्लास न जागता. वे ऊपर से चुप चाय पीते रहे. भीतर अतीत और वर्तमान में झूलता स्मृतियों का एक झूला था. वे उस झूले पर सवार थे.

इसी घर में कभी दस जन रहते थे. अपनी तो दो बेटियां ही थीं. और वे दोनों जीव. शेष छः यानी डेढ़ सौ प्रतिशत दूसरे थे. वैसे मानें तो सभी अपने ही थे. मगर अब मानता कौन है. संभव भी नहीं है. भाई-बहन के बच्चे थे. उनको गांव में रहकर ढंग की शिक्षा न मिल पाती थी. कमला की एक विधवा बहन थी. और उसकी छोटी-सी बेटी. एक परित्यक्ता भतीजी थी. दोनों को यहां रखकर गुरु ट्रेनिंग करायी. अब दोनों 'देवीजी' हैं.

कमला की उदारता और परदुःख कातरता का फल था वह. यशोधर जी को भीड़-भाड़ अच्छी नहीं लगती. वे बीच-बीच में बौखला उठते और कमला से लड़ने लगते.

'तुमने तो घर को सराय बना दिया है. शहर में रहने का यह तरीका नहीं है.'

'हम शहरू हैं कहां ! हम तो देहाती हैं,' कमला परिहास में कहती. फिर गंभीर हो जाती, 'दिक़्क़त तो होती ही है. हम नहीं समझते हैं! हम लोगों के थोड़ा-सा दुख उठाने से यदि इनका जीवन बन जाता है, तो हरज क्या है?'

'हरज कैसे नहीं है. हम न तो ठीक से खा-पी पाते हैं, न सो-बैठ पाते हैं. लोग बाल-बच्चों को लेकर घूमने जाते हैं. होटल में बैठकर खाते हैं. सिनेमा देखते हैं. हम लोग बस परोपकार में लगे रहते हैं...'

'परोपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है. रामायण में कहा है- 'परहित सरिस धरम नहि भाई.' फिर यह भी तो सोचिए कि ये सभी हैं कौन. हमारा ख़ून ही तो हैं. यह तो मानने की बात है.'

'अरे भाई, तुम समझती क्यों नहीं हो. यह तुलसीदास और राम का समय नहीं है. यह बीसवीं सदी का उत्तर काल है. तुमने तो रामायण पढ़-पढ़कर अपना दिमाग़ ख़राब कर लिया है.' यशोधर जी बौखला जाते.

हालांकि सब कुछ यशोधर जी की भी सहमति से ही हुआ था. फिर भी वे कमला पर देह धुनते. कमला सब समझती थी. और बिल्कुल बुरा न मानती थी. करना तो सब उनको ही पड़ता है.

दस जनों का परिवार चलाने में यशोधर जी पछड़-पछड़ जाते. ओह, कैसा भीषण संघर्ष था, तब जीवन में. ख़ानगी व्यवस्था

'कथाबिंब' के हितैषी एवं नियमित कथाकार

११ मार्च १९४०, तेलधी (भागलपुर, बिहार)

एम. ए. (हिंदी), पी-एच. डी.

की चाकरी थी. काम करो खच्चड़ की भांति जान से ऊपर और पाओ ज़रूरत से बहुत कम. सुविधाएं कुछ नहीं. नाम की छुट्टियां. एक-एक दिन को पहाड़ की भांति काटना.

अब यहां से पलटकर देखने पर लगता है, उस संघर्ष, अभाव तथा यंत्रणा भरे जीवन में ही सुख था. बाद में धीरे-धीरे जीना आसान होता गया था. उनके महकमे का सरकारीकरण हो गया था. सरकारी-वेतनमान तथा अन्य सुविधाएं मिलने लगी थीं. घर का बोझ भी धीरे-धीरे हल्का होता गया था.

एक-एककर सभी चले गये. रह गये यशोधर जी और कमला. पता नहीं, ये दो भी कितने दिन साथ रहेंगे ? कमला की सेहत का जो हाल है, उससे यशोधर जी हमेशा डरे-घबराये रहते हैं. आज यशोधर जी के पास काम चलाने भर को सब कुछ है. अपना घर है. खाने-पीने की कोई तंगी नहीं. मगर सुख नहीं है. नहीं, असली संपदा पैसा तथा भौतिक वस्तुएं नहीं, आदमी है. यह सच यशोधर जी को जीवन से मिला है. सुख का स्रोत भी वही है. आदमी को आदमी से काटकर नहीं, जोड़कर ही लाया जा सकता है. जीवन और समाज में सुख शोक की बात है कि वह स्रोत सूख रहा है.

सहसा उनको कमला का ध्यान आया और वे स्मृति तथा चिंतन के प्रवाह से बाहर निकल आये. उन्होंने वहीं बैठे-बैठे मन की आंखों से देखा. कमला किचन की छोटी चौकी पर बैठी शून्य में एकटक ताक रही थी.

यही होता है. चूल्हे पर सब्ज़ी चढ़ी रहती है या दूध. कई बार सब्जी जल जाती है. दूध उफ़नकर गिरने लगता है. यहां तक कि यशोधर जी छत पर से दूध या सब्ज़ी जलने की गंध सूंघकर नीचे उतर आते हैं, मगर कमला वैसे ही खोयी रहती है.

वे एकाएक उठकर खड़े हो गये. उनको अपराध बोझ सा होने लगा था. कमला वहां अकेली गर्मी तथा मच्छरों के बीच पड़ी है और वे यहां चांदनी का मज़ा ले रहे हैं. किसी तरह घिसट-घिसटकर सारे काम करती है कमला. सीढ़ियां भी नहीं चढ़ पाती कि कुछ देर छत पर आकर सुस्ता लेती. अकेलापन और सन्नाटा भी टूटता.

यशोधर जी नीचे आ गये. किचन के मुंह पर पड़ी कुर्सी पर बैठे गये. आहट पा कमला ने मुंह घुमाया.

'क्या बात है, सवेरे उतर आये ! भूख लग गयी क्या ?' कमला का स्वर सहज था.

'नहीं, भूख क्या लगेगी !'

चुप्पी.

कमला थकी रफ़्तार से रोटी बेलने लगी. यशोधर जी की आंखे उसकी हिलती पीठ पर टिकी थीं. पीठ पसीने से तर थी.

थोड़ी ही देर में वे गर्मी तथा मच्छर से परेशान हो गये.

'ओह, मच्छर कितना है!' पटाक से बांह पर चांटा मारते हुए बोले, 'एक तो गर्मी, ऊपर से मच्छर.'

'मच्छर तो काट-काटकर पैर फुला देते हैं.' कमला ज़मीन पर बायां पांव पटकते हुए बोली.

'ऐसी गर्मी में चूल्हे के पास बैठना आफ़त ही है. हम तो कहते हैं, रात का खाना बनाना बंद ही कर देते हैं. दूध-ब्रेड खा लेते.'

'दूध-ब्रेड खाकर एक आध दिन रहा जा सकता है. रोज़-रोज़ खाया जायेगा दूध-ब्रेड !'

'अरे ख़ाली दिन ही तो काटना है, खाना क्या है !'

'जब तक देह चलती है करते हैं.' उसांस भरती-सी आवाज़ में कमला बोली, 'और सब काम तो किसी तरह कर लेते हैं, मगर चूल्हा तले जाने का अब एकदम जी नहीं करता है. कलप जाता है मन. मगर क्या करें, कौन कर देगा ?'

यशोधर जी सन्न रह गये. उनको मां की याद आ गयी. ठीक यही बात मां भी बोला करती थी.

'अब एक ही मन करता है बेटा कि कोई खाना बनाकर, थाली में परोसकर, सामने रख जाये. रसोई से बाहर के सौ काम कहे, हलस के कर देंगे, मुदा चूल्हा तर जाने से मन छीह काटता है.'

'कौन कर देगा !' कमला की बात यशोधर जी के माथे में घूम रही थी. कितना दर्द और बेबसी है इस वाक्य में.

'समय कैसे बदल जाता है !' सोचते-सोचते स्वगत भाव में बोल पड़े यशोधर जी, क्या ? कमला ने पलटकर पूछा. समय सबसे बली होता है.'

कमला कुछ नहीं बोली.

'कभी ध्यान आता है कि एक समय इस घर में दस जन स्थायी रूप से रहते थे तो विश्वास नहीं होता है.'

'रहते ही थे !'

'सब अपने-अपने रास्ते लग गये. उस समय लगता था, कितनी भीड़ और शोर है. तब इस शांति के लिए तरसते थे. अब लगता है, वही शोर-शराबा फिर से होता !'

'आदमी से ही न घर होता है. तब कितना सुहाना लगता था घर, जैसे फलों से लदा पेड़. आज हम दो प्राणी भूत बने रहते हैं.'

'हां, असल चीज़ है आदमी. जबकि आज उल्टा हो रहा है. आदमी का कोई मोल नहीं रह गया है. जो है सो पैसा.'

'माय-बाप से भी बढ़कर हो गया है पैसा !'

'माय-बाप को अब कौन पूछता है ?'

'हूं ऽ!'

अब दोनों चुप थे. कमला बेटियों तथा नातियों-नातिनों की याद में डूब गयी. ये यादें ही तो अब उसके संबल हैं, और आशा. एक प्रतीक्षा. उनके आने की. वे जब आते हैं, कमला धरती पर की सबसे सुखी स्त्री होती है.

यशोधर जी अपनी अवस्था के बारे में सोचते-सोचते बचपन की ओर कूच कर गये. जहां संयुक्त परिवार था. दादा-दादी थे. दोनों का सरबराहों जैसा सम्मान था. आंगन में दादी का राज चलता था. बाहर दादा का. यशोधर जी ने तीसरी पीढ़ी का सुख देखा है. वह सुख अब लुप्त हो गया है. अब तो तीसरी पीढ़ियां अलग-अलग कलट-बिलट रही हैं.

'खाना-पीना होगा ?' तभी कमला ने धीमे से पूछा.

'खाना तो है ही न.चाहे मन हो कि न हो. तुमने जब इतनी मेहनत करके खाना बनाया है.'

'तो खाइए, जल्दी से. अब हमसे बैठा न जायेगा. हम लेटेंगे.'

'ऐसा करो न, तुम कुछ देर लेट ही लो.'

'पड़ गये, फिर तो हमसे उठना पार न लगेगा और जो आंख लग गयी तब तो और प्रलय है. उठकर खड़े होते ही देह एकदम से थरथराने लगती है.'

'ठीक है तब खा ही लेते हैं. खा-पीकर निश्चिंत हो सो जायेंगे....लेकिन पानी तो भरना है न. ऐसा करो, तुम खाना निकालो, हम जल्दी-जल्दी पानी भर लेते हैं.'

यशोधर जी झटके से उठे. चांपा नल चलाकर छोटी-बड़ी तीन बाल्टियां भरी. एक को पख़ाने में रखा. दो को बरामदे में. इतने में ही बुरी तरह थक गये. पसीने से गंजी भीग गयी. मगर भीतर अच्छा लग रहा था. इसी बहाने थोड़ा श्रम हो जाता है. कहते है, देह को जितना सताओगे, उतना ही साथ देगी. दुलराने से दुख देगी.

भोर में पहले कमला उठती है. यह उसकी सब दिन की आदत है. उठकर पहले घर का आंगन में झाड़ू लगायेगी. फिर टट्टी होगी. उसके बाद बरतन-बासन. पानी भरा रहने से उसको आसानी होती है. जोड़ों में दर्द के कारण चांपाकल चलाने में तकलीफ़ होती है. फिर भी चलाना तो पड़ता ही है. यशोधर जी ध्यान रखते हैं कि कमला को कम से कम पानी भरना पड़े. कमला कपड़े धोने की तैयारी करने लगेगी तो यशोधर जी चुपचाप बाल्टियां भरकर छोड़ देंगे. वे जानते हैं, कमला अपने मुंह से कभी पानी भरने के लिए कहेगी नहीं.

पानी भरकर, हाथ-मुंह धो, गमछा से पोंछते हुए यशोधर जी कमरे में आ गये.

'हो गया सब काम. बस अब खा-पीकर ताला बंद करो और सो जाओ.'

खाना लगा था. यशोधर जी खाने लगे. कमला ने रसोई में ही जो थोड़ा-बहुत रुचा, निगल लिया.

कमला कमरे में आयी. लैंप को खूब कम कर दिया. अंधेरा चारों ओर से हड़हड़ाकर उमड़ा. मगर लैंप के निकट आते ही ठिठक गया. वहां थोड़ी-सी रोशनी थी. बिस्तर पर बैठकर कमला ने दोनों पैर फैला लिये. कुछ देर पैरों को ससारती रही. फिर धीरे-धीरे लेट गयी.

'अब नहीं चलने वाली है यह देह !' उसके शब्द पीड़ा से कराह रहे थे.

यशोधर जी की सांस रुक गयी. एक दहशत-सी नाड़ियों में दौड़ गयी. वे बदहवास-सी पड़ी कमला को देखते रहे. भोर से लेकर रात तक वह सब काम करती है. जब तक कर पायेगी करती ही रहेगी. शरीर जब तक साथ देता है तभी तक तो. जिस दिन शरीर जवाब दे देगा, उस दिन क्या होगा ? यह प्रश्न भीतर तक कंपा गया.

एक और प्रश्न है, बड़ा भयानक, जिससे वे भरसक बचते हैं. वह हमेशा सोयी रात में ही सिर उठाता है. जब कमला उनके पहलू में सो रही होती है. उसकी भारी, खरखराती सांस गूंजती रहती है. वह खरखराहट बीच-बीच में टूटती है, फिर जुड़ जाती है. कभी जुड़ने में देर होती है तो वे चौकन्ने-से हो जाते हैं. कुछ ही पल में सांस फिर बजने लगती है. उसी पलांश में वह प्रश्न उगता है. 'कमला यदि अचानक.....?' डर के मारे वे मन में भी वाक्य पूरा नहीं कर पाते. तब वे क्या करेंगे ?.... कमला के बाद उनका क्या होगा ?'

'सो गयी क्या ?' यशोधर जी ने अकबकाकर कमला को पुकारा.

'उं !' कमला के कंठ से कलपता हुआ स्वर निकला. मगर उसने आंख न खोली.

'क्यों नहीं हम उसको रख लें ?'

'किसको ?'

'निशा को !'

कमला कुछ न बोली.

'हमें एक जन मिलेगा और उसका भी भला होगा. इस पर सोचो न !'

कमला अब भी कुछ न बोली.

निशा यशोधर जी के अपने भतीजे गोविन्द की बेटी है. एक दिन गोविंद औचक ही चौक पर मिल गया था. यशोधर जी ने लौटकर कमला को सब बताया था.

'गोबना मिला था.' यशोधर जी बोले थे.

कमला ने सुन भर लिया था.

'निशा के बारे में बता रहा था. उसको मैट्रिक में छः सौ तेहत्तर नंबर आया है. उस पार के सभी स्कूलों की बेस्ट स्टूडेंट तो है ही, हो सकता है, बोर्ड की मेरिट लिस्ट में भी आ जाए. कह रहा था, 'निशा तो सुंदरवती में नाम लिखाना चाहती है. मगर होस्टल में रखकर पढ़ाने का खर्चा हम नहीं उठा सकेंगे.' जाते-जाते बोला, 'एक बार चाची से भी भेंट करेंगे.'

टीवी वाली औरत

✍ विमल पांडेय

वह आती है बार-बार
कई रूपों में सुख पहुंचाती
पति को, घर को, बच्चों को,
ज़िद्दी से ज़िद्दी दाग़ वाली
चादर ख़ुद धोती -
सबको पीछे कर एअरहोस्टेस होती,
पूरे परिवार का ध्यान रखती,
एक ख़ास साबुन से नहलाकर
दस साल के बच्चे की मां होकर भी
सुंदर, सुघड़, जवान दिखती
दहेज के दानवों को इन्कार करती
एक क्रीम लगाकर
ख़ास है कुछ उसमें
खींचता है जो अक्सर अपनी तरफ़
एक उसकी मोहक मुस्कराहट
सांचे में ढली देह
दूसरा उसका गृहस्थ ज्ञान
क़िफ़ायत और मुस्कराहट
हर परेशानी में, हर दुख में
अपने पति के साथ.

द्वारा श्री राजिंदर सिंह
६७९/७, गोविंदपुरी, कालकाजी, नयी दिल्ली ११०००१

'चाची से काहे के लिए भेंट करेगा ?' कमला ऐसे तड़पकर बोली थी, जैसे गर्म लोहे पर पैर पड़ गया हो.

'वही सब रोदन पसारेगा और क्या कि हम लोग निशा को अपने यहां रख लें.'

'फिर नाढ़ो बेल तले.' कमला के स्वर में विद्रूप था. और आपको भी कह देते हैं, झट से सकार न लीजिएगा.

'नहीं-नहीं, हम काहे सकारने लगे भला.

'वही कह दिया..... एक बच्चे से गोवन को यहां रखे. बाल वर्ग से लेकर बी. ए. तक पढ़ाया. और उसका क्या बदला दिया दोनों बाप-पूत ने मिलकर ?'

'दुश्मन से भी बढ़कर हो गये.'

'हमने उसको कैसे अपना बेटा बनाकर रखा. जो खाया-पहना सो खिलाया- पहनाया. मगर कोई यश नहीं.

'कहते नहीं हैं, होम करने से हाथ जलता है. 'हम बहुत खराब हैं, फिर क्यों हमसे सटना चाहते हो बेटा ! रहो तुम अपने घर, हम अपने घर में हैं.

'आज जब गरज़ पड़ी है तो चाचा-चाची गोहनाने आया है. काम निकला कि फिर वही. पतित कहीं का. बेशरम !'

'जो किया है उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा. भगवान बहुत बड़ा है. करनी का फल सब को देता है. चार ठे बेटी ही दे दी. हमको अदूर किया सबने मिलकर. अब बोलो न, तुम्हारा कौन होगा भोगने वाला.

'मगर गोवना की बेटियां चारों हैं बड़ी सोनी, नहीं !'

कमला ने कड़ी, भेदती आंखों से यशोधर जी को देखा था. वे सिटापिटा गये थे.

यशोधर जी ने हौले से कमला के माथे पर हाथ रखा. कमला के बदन में हल्की-सी जुंबिश हुई. समझ गये, वह जाग रही है. उनका हृदय द्रवित हो आया. ओह, कितनी अच्छी थी, कमला. थी क्या, अभी भी है. कितनी उदार, प्रेमिल ! देने में, किसी को भी खिलाने में कितना सुख मिलता है इसको. मगर इस स्वार्थमय संसार में अच्छे और भले की क़द्र कहां है. सभी मतलब के यार हैं.

'हमने कभी किसी का बुरा न चेता.' यशोधर जी जैसे अंधेरे से बोले, 'जहां तक बना भला ही किया सब का....'

'भले का संसार कहां है.' कमला बीच में ही बोल पड़ी.

'सो तो नहीं ही है.'

'वैसे आपका मन हो तो रख लीजिए. मगर हमारी तो आतमा अब एकदम कबूल नहीं करती है कि, उन लोगों के साथ कोई हेल-मेल रखें. कुत्ता काटे कि चाटे दोनों में अपाय है.

'रणनीतिक दृष्टि से देखो तो इसमें अपना भला भी है.

'हमारा क्या भला होगा इसमें ? उल्टे और पैमाल ही होंगे. जब बेटी यहां रहेगी तो उसके बहाने पारा-पारी लगे ही रहेंगे सब-जीव. आज डाक्टर को दिखाना है, तो कल बाज़ार करना. सब का नीरपना करते रहो दिन-रात.'

'सो सब तो होगा ही. तब एक आदमी घर में होगा.'

'आदमी-वादमी कुछ न होगा. वह यहां पढ़ने आयेगी, न कि हमारा भात-भानस, चौका-बरतन करने. दिन में कॉलेज जायेगी. सांझ-बिहान पढ़ाई करेगी. उसको कब समय होगा कि.... वैसा यदि हमको एक आदमी ही रखना होगा तो नौकर क्यों न रख लेंगे. एक छोटा-सा लड़का कहते हैं, आपको खोजिए तो.....

'नौकर अब मिलता कहां है!'

'और लोगों को कैसे मिल जाता है ?'

'पता नहीं. कहा तो है कई लोगों से.'

कमला चुप हो गयी. चुप होते ही उसकी चेतना के पट पर पहले निशा आयी. फिर उसकी छोटी बहनें. सबके आखिर में उनकी मां आयी. लक-लक पतली, लंबी. निरीह ऐसी जैसे मुंह में बोल न आंख में लोर. कमला के प्रति उसका व्यवहार सदैव अपनों जैसा रहा है. वह वैसी दुष्टा है भी नहीं जैसी उसकी सास हैं. और बेटियां चारों तो दादा-दादी ही करती रहती हैं...

सहसा उसको अपने भीतर भूल-बोझ सा महसूस हुआ. याद आया, उस दिन उसने बौखलाहट में उन लोगों के प्रति बहुत कटु और अशुभ बात बोल दी थी. जब की कमला ने कई बार अपने देवी-देवताओं से प्रार्थना की है कि गोवन को एक बेटा दे दें.

'निशा को यदि ठीक से पढ़ाया जाता तो वह निकल सकती थी.' कमला धीमे से बोली.

'अरे वह तो आई. ए. एस बन सकती है.' यशोधर जी चहक उठे, 'परिवार का नाम ऊंचा कर सकती है यह बेटी. एक दिन मिले थे उसके हेडमास्टर. कहने लगे, 'निशा जैसा मेधावी स्टूडेंट मैंने अपने पूरे कैरिअर में नहीं दिखा.' कमला आंखें मूंदे मौन रही.

'साधु और बिच्छू वाली कथा याद है न कम्मो!' यशोधर जी के स्वर में एक दार्शनिक ठहराव था,' वही बात है. जब बिच्छू डंक मारने का अपना धर्म नहीं छोड़ता, तो साधु भी बचाने का अपना धर्म क्यों छोड़े ?'

'इस ज़माने में उन कथा-कहानियों का क्या मोल है ?'

'उनका मोल हमेशा रहेगा. जीवन उन्हीं से तो संवरता है.

कमला कुछ नहीं बोली. यशोधर जी भी चुप थे. कमरे में अंधेरा था. मगर अब वह छाती पर पड़ा काला पहाड़ नहीं लग रहा था. अब वह हल्का था. सुख की रात जैसा हल्का और तरल. उसमें नींद की आहट थी.

✍ देवगिरि, आदमपुर घाट,
भागलपुर (बिहार) ८१२ ००१

कहानी

इतने पर भी !

मुसलमान !

शायद यही समझा था. पिछली कई बार की तरह. इसमें कभी-कभी सहूलियत भी रही है और कभी नुक़सान या अपमान भी. एक बार अगर ठसाठस भरी बस में मुस्लिम कंडक्टर ने एक सीट पर जैसे-तैसे जगह निकलवाकर बिठवा दिया था तो दूसरी बार गुना के बस स्टैंड पर बड़ें बालोंवाले तिलकधारी प्याऊवाले ने भीड़ का बहाना बना पानी की केटली भरने के लिए बस स्टैंड के कोने पर बनी सीमेंट की टंकी पर भिजवा दिया था. बुरा लगा था. अपमानित महसूस किया था. जब कि मैं वह नहीं था, जो समझा गया था. अगर होता तो ! जो होते ही हैं वे कैसा महसूस करते होंगे ऐसे में.

इस बार भी वैसा ही कुछ हुआ था. बस में कुछ देर बाद ही इस बात का हल्का-सा आभास हो गया था. उन लोगों के देखने और बातों के अंदाज से ! वे पांच-छः थे अगली सीटों पर बैठे थे. भरे-पूरे जिस्म के जवान पट्ठे. अखाड़े या जिम वग़ैरह जानेवाले. मज़बूत कद-काठी. एकाध के कपाल पर तिलक, सिर पर चोटी भी. बातों में हल्की-सी बेफिक्री. अंदाज कुछ-कुछ हमलावर क़िस्म का.

'अच्छा धोया सालों को! वे अभी-अभी ख़त्म हुए क्रिकेट मैच की बात कर रहे थे. जिसमें पाकिस्तान को भारत ने बड़े फ़ासले से हराया था. जगह-जगह पटाखे छूटे थे. नारे लगे थे.

'इनको हर ज़गह इसी तरह निपटाना चाहिए !'

'बिल्कुल !'

अचानक लगा कि बात शायद मुझे लक्ष्य करके कही गयी है. मुझे सुनाते हुए. मुझे मतलब मेरी दाढ़ी को.

दाढ़ी !

'ये क्या मुसलमानों जैसी दाढ़ी रख ली है. हिंदू हो. अगर चोटी नहीं रख सकते तो मत रखो लेकिन कम से कम मियांओं जैसी दाढ़ी भी तो मत रखो. अगर रखना ही है तो ऋषियों- साधुओं जैसी रखो.

मेरी दाढ़ी को लेकर की जानेवाली आम नसीहत थी यह. कई लोगों को एतराज़ था. शिकायत. इधर इसमें बढ़ोत्तरी हुई थी. मैं दाढ़ी के बचाव या पैरवी में भी कभी खास कुछ नहीं कह पाया था. निरर्थक लगा था कहना. बहरहाल, मुसलमान समझा जाता रहा था. दानों तरफ से. वे लड़के भी शायद ऐसा ही कुछ समझे थे.

उस लड़की ने भी शायद यही समझा हो जो पिछले स्टॉप से एक बच्चे के साथ बस में चढ़ी थी. उसके चढ़ते ही बस चल दी थी. और वह दरवाज़े के ऐन सामने की मेरी वाली सीट पर बैठ गयी थी. हालांकि, पूरी बस उस वक़्त क़रीब-क़रीब ख़ाली थी. लेकिन बहुत संभव है कि सामने एकदम सीट ख़ाली दिखी और इसलिए उसी पर बैठ गयी थी. अक्सर होता है ऐसा. ख़ासकर जब आप लगभग चलती बस में चढ़ते हों !

'अम्मी, नींद आ रही है !' बच्चे ने कहा था.

अम्मी ! पूरी बस ने सुना था. उन लड़कों समेत सबकी निगाह एक बार उसकी ओर उठी थी. अम्मी ! मुसलमान!!

लेकिन, बुर्क़ा ! शायद नहीं डालती हो. कई मुस्लिम लड़कियां नहीं डालतीं. हो सकता है कि जल्दी की वजह से रह गया हो ! या फिर जान-बूझकर न पहना हो. ताकि एक मुस्लिम की तरह पहचानी न जा सके ! कभी-कभी सुरक्षा और बचाव की चीज़ें भी परेशानी या मुश्किल में डाल देती हैं. पता नहीं ठीक-ठीक क्या था. पर उसने बुर्क़ा नहीं डाला था. और अब बहैसियत एक मुसलमान पहचान ली गयी थी. बच्चे पर उसे शायद गुस्सा भी आया था. बच्चे को गुस्से से देखा था. गुस्से में एक ख़ास क़िस्म की बेचारगी भी घुली हुई थी.

डॉ. प्रकाश कांत

दाढ़ी ! अपनी सीट पर उसके बैठने का मतलब अब समझ में आया था. मेरी दाढ़ी ने शायद उसे आश्वस्त किया था. अपना आदमी. ज़रूरत पड़ने पर कुछ तो मदद करेगा !

उस तरफ़ जाने वाली वह आख़िरी बस थी. अमूमन ख़ाली रहती थी. कम से कम ठसम ठस भरा तो उसे कभी नहीं देखा. आज ज़रा ज्यादा ही ख़ाली थी. शायद ठंड तेज़ होने से ! अगली सीटों पर बैठे मुस्टंडे क़िस्म के पांच-छः लड़के, ड्राइवर, कंडक्टर, क्लीनर और मैं ! इसके अलावा, वह और उसका बच्चा. बस. मैं दो स्टॉप पहले चढ़ा था. लौटने में आमतौर पर इतनी देर करता नहीं था. आज ही देर हुई थी. थक भी गया था. सोचा था - डेढ़-दो घंटे के सफ़र में थोड़ी-सी नींद ले लूंगा. ताकि घर पहुंचकर कल की तैयारी की जा सके ! इसी बीच वह बैठ गयी थी. अकेली महिला सवारी. वह भी रात के सफ़र में ! इस स्थिति को लेकर थोड़ी-सी परेशान हुई थी. शायद है कि डरी भी हो ! इन दिनों जिस क़िस्म का माहौल था और महिलाओं के साथ जैसा कुछ होता आये दिन सुना जाता था उस सब को देखते हुए उसका डरना

स्वाभाविक था. दो साल की बच्ची हो या साठ साल की बूढ़ी कोई भी तो सुरक्षित नहीं है, और फिर रात का सफ़र ! एक लगभग ख़ाली बस और जवान-जहान लड़की. अकेली ! मैं हैरान था. महिलाएं आमतौर पर इस तरह आती-जाती नहीं. जब तक कि कोई बहुत ही बड़ी मजबूरी न आ जाये ! उसकी भी शायद ऐसी ही कोई मजबूरी होगी. वर्ना ऐसा जोखिम नही लेती या हो सकता है उसे बिल्कुल नज़दीक के ही किसी स्टॉप पर उतरना हो ! या फिर अगले स्टॉप से उसका कोई परिचित या रिश्तेदार बस में चढ़ने वाला हो !! जो भी हो लेकिन उस वक़्त अपनी स्थिति को लेकर वह परेशान और घबरायी हुई थी.

बस अब तक शहर से बाहर आ चुकी थी. ठंडी हवाओं ने बस को ज़्यादा ठंडा कर दिया था. हवाओं से बचने के लिए उन्होंने उठकर खिड़कियां बंद कर दी थीं. बस अब पूरी तरह से बंद थी. भीतर से. खिड़कियां बंद करने के लिए उठने-बैठने में. उनमें से दो-एक की जगह बदल गयी थी. वे नज़दीक की सीट पर खिसक आये थे. उनकी बिंदास बातें जारी थीं. आवाज़ थोड़ी ऊंची कर दी गयी थी.

उन लोगों की बातों और लड़की के अंदाज़ से यह तो कुछ-कुछ साफ़ हो गया था कि दोनों ही मुझे मुसलमान समझ रहे हैं. लड़की के सवार होने के पहले तक इस बात की सहूलियत और गुंजाइश थी कि मुझे मुसलमान समझ कर वे लड़के अप्रत्यक्ष रूप से अपमानजनक फ़ब्तियां मुझे सुना कर अगर कसते हैं तो सुन लेना है और मामला असहनीय होने लगे तो अपने बारे में असलियत बता देना है.

'अरे !' वे चौंकेंगे. 'माफ़ करना भाई साहब, हम तो आपको मियां समझ रहे थे.' कोई कहेगा. मैं मुस्कुरा दूंगा. बात ख़त्म हो जायेगी. लेकिन, अब स्थिति बदल गयी थी. बल्कि बिल्कुल एक नयी अजीब-सी स्थिति बन गयी थी. मेरा ध्यान अगली सीटों पर था. वे ज़ोर-ज़ोर से बोल रहे थे. हंस रहे थे. ठहाके लगा रहे थे. हालांकि, बस के इंजन की आवाज़ के मारे वे क्या बोल रहे थे यह समझ में नहीं आ रहा था. ज़रूर वे मेरे और इस महिला के बारे में बात कर रहे होंगे. मुझे लगा. यूं भी इस उम्र में किसी महिला या लड़की की मौजूदगी काफ़ी रोमांचक और उत्तेजक हुआ करती है. किसी भी पुरुष के लिए और फिर मुस्लिम लड़की ! उनके लिए तो मामला काफी विस्फोटक हो रहा होगा. फाड़ खाने जैसा ! बंटवारे के वक़्त क्या-कुछ नही हुआ था. घर के आदमियों को बांध कर उनके सामने उनकी औरतों, बेटियों, बहनों को नंगा कर उनके साथ कई-कई लोगों ने बलात्कार किया था. मर जाने के बाद लाशों तक से. गर्भवती औरतों के जननांगों में भाले डाल कर उनके गर्भ निकाले गये थे. दंगों में भी यही होता रहा है. औरत के साथ हमेशा से यही होता आया है. दंगा हो या युद्ध, उनका पहला शिकार हमेशा औरत ही होती है.

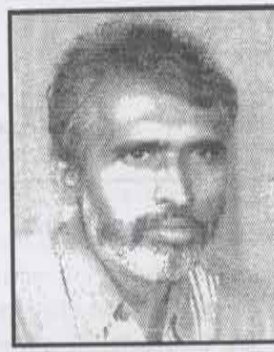

२६ मई १९४८, सेंधवा, प. निमाड़ (म. प्र.);
एम. ए. व पी-एच. डी. (हिंदी)

लेखन : *विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सत्तर से अधिक कहानियां प्रकाशित. दो उपन्यास 'अब और नहीं,' 'मक़्तल,' और कार्ल मार्क्स के जीवनवृत्त पर एक पुस्तक प्रकाशित. एक कहानी-संग्रह 'सूखी नदी का स्पर्श' शीघ्र प्रकाश्य.*
विशेष : *डॉ. रांगेय राघव के उपन्यासों पर शोध-प्रबंध.*
संप्रति : *स्वतंत्र लेखन.*

यहां भी मामला एक मुसलमान औरत का है. अपना पराक्रम दिखाने का इससे बेहतर मौक़ा और कौन-सा हो सकता है ! किसी भी क़ौम या समुदाय से बदला लेने, उसे ज़लील करने का हर युग - हर जगह यही एक हमेशा आज़माया जानेवाला हथियार रहा है. औरत ! दलितों को सबक़ सिखाना है तो उनकी औरतों को उठवा लाओ या हथियार लेकर उनकी बस्तियों में घुसो, घरों में घुसकर औरतों को बाहर खींचो और उन पर टूट पड़ो. मुसलमानों को नसीहत देना है तो भी यही करो. और हिंदुओं को देना है तो भी यही ! जैसा कि बंटवारे के वक़्त मुस्लिम बहुल इलाकों में हुआ था. एक सिक्ख ने इंदिरा गांधी को मार डाला तो सिक्खों की औरतों के साथ चौरासी के दंगों में यही किया गया. चीन-जापान युद्ध में जापानी सैनिकों ने चीनी औरतों के साथ और अमेरिकी सैनिकों ने वियतनामी औरतों के साथ यही किया. अब, ड्राइवर, कंडक्टर, क्लीनर समेत वे मुस्टंडे इस औरत के साथ अपनी वीरता का प्रदर्शन इसी तरह करेंगे. उन लड़कों में से कुछ को तो नारी देह का अनुभव भी शायद पहली बार होगा. इतने वीर पुरुषों के पराक्रम के बाद अगर ज़िंदा बच गयी तो उसे जंगल में कहीं उतार देंगे और मर गयी तो लाश फेंक देंगे. ऐसा ही कुछ तो होता आया है. यही सुना है. यही होगा. लड़की अगर ज़िंदा बच भी गयी तो क्या कर लेगी ! ऐसे मामलों में औरत भला क्या-कुछ कर पाने की हालत में रह जाती है ! चुप रहने में ही बेहतरी समझी जाती है. वह भी समझेगी. अपना स्टैंड आने पर अपने बच्चे को लेकर चुप-चाप उतर जायेगी. सिर झुकाये हुए. वे लोग एक

वहशी मुस्कुराहट के साथ उसे देखेंगे. और बस चल देगी. वह अपने घर पहुंच जायेगी. शायद कोई कभी नहीं जान पायेगा कि उसकी देह पर से कितनी क़यामतें टूट कर गुज़र चुकी हैं. अक्सर नहीं जाना जा पाता. कुछ क़यामतें या महाप्रलय इतने चुपचाप हो कर गुज़र जाया करते हैं. न तो इतिहास में दर्ज हो पाते हैं और न जनकथाओं में.

लेकिन, मेरे होते क्या वे सब कर पायेगें ? क्यों नहीं कर पायेंगे ! इतने और वे भी ख़ासे हट्टे-कट्टे और मज़बूत लोगों के बीच मेरे जैसे डेढ़ पसली के आदमी की भला औक़ात भी क्या रहेगी ! कोई चश्मा ही छीन ले तो दिन में अंधेरा हो जाता है. मेरे लिए तो उनके दो-एक थप्पड़ या एकाध घूसा ही काफ़ी रहेंगे. शायद वे मुझे लेकर कुछ सोच भी नहीं रहे होंगे. यदि सोच रहे होंगे तो यही कि कहां अपना पराक्रम दिखाना है.

कहां दिखायेंगे ? मैंने सोचना शुरू किया. वैसे, ठंड की रात है, रास्ते में किसी भी जगह हो सकता है सब कुछ. मुंह पर कपड़ा बांधा, हाथ-पैर पकड़े और बस! सिर्फ़ ड्राइवर के लिए बस रोकनी पड़ सकती है. वैसे, घाट और उसके जंगल को ज़्यादा अच्छी महफ़ूज़ जगह समझा जा सकता है. बिल्कुल सून-सपाट इलाका. वहां से गुज़रने वाली आख़िरी बस यही होती है. फिर तो कभी-कभार ही कोई ट्रक गुज़रता है. बाद में सिर्फ सूनापन. डरावना सूनापन. दसियों लोगों का क़त्ल करके भी फेंक दिया जाये तो भी पता नहीं लग सकता. यक़ीनन वहीं का सोच रहे होंगे. लेकिन, इसे उतरना कहां है ? बीच में जो चार-छः छोटे गांव आते हैं वहां की तो लगती नहीं. शायद आख़िरी स्टॉप पर ही उतरेगी. वहीं कुछ मुस्लिम परिवार रहते हैं. किसी के यहां भी जा रही हो लेकिन, इतनी रात गये तो कम से कम आख़िरी बस से तो नहीं जाना चाहिए था. वह भी एकदम अकेली ! जवान औरत साथ हो तो अकेला आदमी भी उसे लेकर रात में सफ़र करने से डरता है. वह भी ऐसे सूने, डरावने जंगल के रास्ते से. लेकिन यह ! और इस पर मुसलमान ! इसके घर वालों ने क्या इस बारे में बिल्कुल भी नहीं सोचा ? आख़िर ऐसा कौन-सा ज़रूरी काम आ पड़ा होगा ? कोई बहुत ही ज़्यादा बीमार होगा या मर गया होगा. तब भी सुबह तक तो रूका ही जा सकता था. सुबह बिल्कुल पहली बस से निकला जा सकता था. और अगर आज ही निकलना ज़रूरी था तो फिर जल्दी निकल जाना चाहिए था. अगर इतनी रात गये ही जाना था तो किसी को साथ ले लेना था. घर के या फिर जान पहचान वाले को ! यह क्या कि मुंह उठया और चल दिये.

एक ज़ोरदार ठहाका पड़ा. कोई अश्लील किस्म का चुटकुला सुनाया गया होगा शायद. ड्राइवर-कंडक्टर भी उस ठहाके में शामिल थे. ठहाके के बाद पीछे मुड़कर देखा गया था. वह थोड़ी-सी सहम गयी. मुझे देखा.

'भाई जान, आप कहां तक जा रहें हैं.'

भाई जान! मेरी दाढ़ी उसे आश्वस्त कर रही थी. हालांकि, उसने नहीं पूछा था. मानकर चली होगी कि, जहां तक भी जा रहा होऊं मुसलमान होने के नाते ज़रूरत पड़ने पर उसका बचाव करूंगा ही. हर हाल में. हर क़ीमत पर. वैसे, मेरे मुसलमान होने की स्थिति में भी यह इस बात की आंतिम गारंटी नहीं हो सकती थी कि उसके साथ बलात्कार नहीं हो सकता! क्योंकि, एक हिंदू भी तो हिंदू औरत के साथ बलात्कार करता ही है. मुसलमान भी मुसलमान स्त्री के साथ करता है. पुरुष के हिंदू या मुसलमान होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता. शिकार औरत को होना होता है इसलिए वह होती है. हर हाल में. ख़ैर !

अगर इसे बता दूं कि मुसलमान नहीं हूं तो ? अचानक ख़याल आया था. तब क्या फौरन उठ कर पिछली या बिल्कुल पीछे वाली सीट पर जाकर बैठ जायेगी. एक हिंदू की सीट पर! उसके इतने नज़दीक!! क्या भरोसा मैं भी उन लड़कों के साथ हो जाऊं. ऐसे में यही तो होता है. अच्छे से अच्छा उम्रदराज़ या सभ्य दिखने वाला आदमी मौक़ा मिलते ही जानवर हो जाता है. मैं भी हो जाऊंगा. वह यही सोच सकती है.

मैंने अपने भीतर के जानवर को टटोलने की कोशिश की. हालांकि, उसकी जगह पर यह पाया कि उसे लेकर परेशान हूं और फ़िक्रमंद भी.

अचानक बस रुकी. खिड़की से देखा किसी स्टॉप पर नहीं बल्कि बीच रास्ते में रोकी गयी थी. यहां क्यों रोकी ? क्या यहीं सब कुछ होने वाला है ? अगर होने लगा तो मैं क्या करूंगा ? उन्हें किस तरह से रोकूंगा - मना करूंगा ? क्या यह कह कर कि मैं भी हिंदू हूं फिर भी प्रार्थना करता हूं कि ऐसा कुछ न करें!

'तुम अगर हिंदू हो तो फिर क्यों रोक रहे हो ! मियांओं को भी जब मौक़ा मिलता है तो वे हमारी मां, बहन, बेटियों के साथ यही करते हैं.' मुझे हड़काया जायेगा. मैं तनकर खड़ा हो जाऊंगा. चाहे जो हो जाये. मैं अपने को भीतर से तैयार करने लगा था. क्या-क्या करना है और कैसे करना है. एक बार लड़की का चेहरा देखा था. शायद डर गयी थी. मैं अपनी ही धड़कन सुन पा रहा था.

वे लोग गाने गाते, सीटी बजाते उतरे थे और पांच-सात मिनट में वापस आ गये थे. शायद पेशाब करने गये थे. पेशाब मुझे भी आ रही थी. इसका एहसास इतनी देर में पहली बार हुआ था. लेकिन, मैं पेशाब के लिए नहीं उतरना चाहता था. क्या पता कि मेरे उतरते ही वे बस ले कर चल दें. और फिर निश्चिंत हो कर अपने काम को अंजाम दें. बहरहाल, नहीं उतरा. बाहर अंधेरे से आती उनकी आवाज़ें सुनता रहा. हंसी-मसख़री, छेड़-छाड़ वाली आवाज़ें ! लगा कि शायद गंदे मज़ाक़ भी कर रहे होंगे. फूहड़, अश्लील और उत्तेजक क़िस्म के चुटकुले ! इस क़िस्म की हंसी

तभी निकलती है. बस में लड़की की मौजूदगी इस सब को और ज्यादा उत्तेजक बना रही होगी. शायद है कि वे अपने भावी काम की रूपरेखा बना रहे हों. मैंने महसूस करने की कोशिश की कि वह और ज़्यादा डर गयी है. शायद मेरे और नज़दीक सरक आयी है.

गाते-सीटी बजाते वे लौट आये थे. मसख़री और छेड़-छाड़ करते चढ़ गये थे. चढ़ते वक़्त एक बार उसे देखा था. उसने अपना चेहरा झुका रखा था. मैंने पाया कि बैठते वक़्त वे लोग एकाध सीट और नज़दीक सरक आये हैं. उनमें से दो अलग-अलग सीटों पर लेट गये. एकाध सीटी बजाते हुए गाना गाने लगा. जिसके बोल समझ में नहीं आ रहे थे. कोई सस्ता सा गाना होगा. इधर ऐसे गीत अक्सर सुनने को मिलते रहते हैं. मैं परेशान हो रहा था. गुस्सा भी आ रहा था. लड़की पर ! नहीं आना चाहिए था इस वक़्त इस बस में. एकाध पल के लिए अपने आप पर भी झुंझलाहट हुई थी. जब उसके घरवालों ने, ख़ुद उसने इस बारे में नहीं सोचा तब मैं ही नाहक़ परेशान क्यों हो रहा हूं. जो कुछ होना हो, होता रहे. ज़्यादा से ज़्यादा एकाध बार समझाकर रोक कर देख लूं. बस! न मानें और न देखा जाये तो पिछली सीट पर जा कर आंख बंद कर बैठ जाऊं.

बस झटके से रुकी. झटका मुझे भीतर से भी लगा. बाहर देखा. धुप्प अंधेरा. डरावना. घाट का सबसे सूना हिस्सा. दिन में भी सूना रहता था. सूना और डरावना. तो यह जगह तय की गयी है.

'ड्राइवर साब, क्या हो गया आपकी रूपमती को ? एक ने पूछा. 'रूपमती' बस का नाम था. सामने बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था. उस इलाक़े में वह बस 'रूपमती' के नाम से ही जानी जाती थी.

'आजकल साली नख़रे दिखाती है !' ड्राइवर ने कहा.

'सालियां तो नख़रे दिखाती ही हैं. और जब जीजा बूढ़ा हो तो ज़रा ज़्यादा ही दिखाती हैं !' दूसरे वाले ने फ़ब्ती कसी. ठहाका लगा. ड्राइवर ने बोनट उठा दिया था. मेरी धड़कन तेज़ हो गयी. बस, यहीं ! यहीं होगा सब कुछ. बस का बंद होना तो बहाना है. मैं अपने को एक तरह से तैयार करने लगा. हालांकि, तैयार होने जैसा कुछ ख़ास नहीं था. जेब में एक मामूली चाकू तक तो नहीं था. जब कि उनके पास होगा. शायद हो कि एकाध देसी कट्टा भी हो । अगर मेरी कनपटी पर रख दिया तो क्या कर लूंगा ! और उसकी कनपटी पर रख दिया तो बेचारी के पास कौन-सा रास्ता रह जायेगा ? मन हुआ कि ज़ोर ज़ोर से चीख़ने लगूं. फेफड़ो की सारी ताक़त लगा कर, पूरे जंगल को दनदनाते हुए. ऐसे कि सोये हुए परिंदे तक घबराकर जाग पड़ें और उड़ जायें. देर तक घाट और घाटियों में चीख़ और उनकी गूंज कंपकंपाती रहे. लेकिन, फिर लगा कि इससे क्या होगा ! चीख ही नहीं इस जंगल में सैकड़ो किलोग्राम के बम भी फोड़ दिये जायें तो भी कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला. अरण्यरोदन की निरर्थकता का विचार शायद इसी से निकला होगा. रोते-चीख़ते रहिए. रोते-चीख़ते मर जाइए - कोई नहीं सुनने वाला. अगल दिनों अख़बारों में ख़बर पढ़ने वाले ज़रूर हज़ारों रहेंगे.

- रात को घाट के जंगल में सामूहिक बलात्कार !

- मुस्लिम युवती रात को बस में सात-आठ लोगों की हवस की शिकार !

- दरिंदो द्वारा मुस्लिम विवाहिता का बस में शीलहरण !

लगभग इसी तरह के या इनसे मिलते जुलते हेडिंग होंगे. आपने क्या देखा ? बलात्कार के वक़्त आप बस में किस सीट पर थे ? कितनी दूरी पर थे. कौन क्या कर रहा था. लड़की को कितने लोगों ने पकड़ रखा था ? आपने रोकने के लिए क्या किया ?

इस तरह के सवाल अख़बार वाले मुझ से भी पूछ सकते हैं. बलात्कार का एक मात्र चश्मदीद गवाह. फोटो सहित छोटा-मोटा साक्षात्कार. पुलिस स्टेशन पर भी पूछा जायेगा. अपराधियों की शिनाख़्त करवायी जायेगी. चश्मिश बकरा दाढ़ीवाला. डेढ़ पसली का. मैं !

'तुमने अपने वाले हो कर लड़की की इज़्ज़त बचाने की कोशिश नहीं की !'

'अच्छा तो तुम मुसलमान नहीं हो ! दाढ़ी तो मुसलमानों जैसी रखी है !'

'मुसलमान नहीं हो तो तुम्हें सब कुछ देख कर मज़ा आ गया होगा ! तुम्हें भी उन सब के साथ हो जाना चाहिए था ! क्यों नहीं हुए ? तुम्हीं नहीं हुए या उन लोगो ने नहीं किया ?'

'ठीक है. अभी जाओ ! आगे जब कभी बुलाया जाये, आ जाना !'

पुलिस थाने पर इसी तरह की कुछ पूछताछ होगी और मैं आ जाऊंगा. लोग कई दिनों तक मुझे देखकर इस कांड की चर्चा करते रहेंगे. कुछ सीधे-सीधे पूछेंगे भी कि हक़ीक़तन क्या हुआ था ! किस तरह से हुआ था. क्या मैं चुपचाप देखता रहा था? कैसा लगता रहा था ? उस सब को देखते वक़्त मैं क्या था ? एक हिंदू पुरुष ? या सिर्फ़ पुरुष ! ऐसे मौक़ों पर आदमी आमतौर पर क्या हुआ करता है ! क्या और कितना रह जाता है ! किसी वजह से अगर चुपचाप बैठ देखता रह गया तो पता लगने पर पत्नी क्या कहेगी ? क्या यह पूछेगी कि मैंने लड़की को बचाने के लिए कुछ किया क्यों नहीं ! भले ही लड़की मुसलमान थी. लड़की की जगह अगर वह होती तो भी क्या मैं इसी तरह से चुपचाप और सुन्न बैठ रहता ? या फिर, एक स्त्री से घटकर सिर्फ़ एक हिंदू औरत होकर यह कहेगी कि मुझे क्या पड़ी थी बीच में पड़ने की! जो कुछ हो रहा था चुपचाप देखता रहता. या आंखें

बंद कर लेता. क्या लड़की के मुसलमान भर होने से लड़की के साथ हुआ जुल्म उसे गलत नहीं लगेगा. बल्कि, क्या एक क़िस्म की हिंसक ख़ुशी होगी. जैसा कि दंगों के वक़्त कुछेक औरतें करती बतायी जाती हैं. पता नहीं क्या होगा ? हां, इतना ज़रूर होगा कि लड़की को बचाने की कोशिश में अगर उन लोगों के हाथों मार दिया गया तो ख़बर शायद कुछ इस तरह से बनेगी - 'मुस्लिम औरत की इज्जत बचाने की कोशिश में हिंदु युवक शहीद !' या 'मुस्लिम युवती की आबरू बचाते हुए एक हिंदु ने प्राण दिये !' या 'सांप्रदायिक सद्भाव की मिसाल !'

अचानक बस की लाइट बंद हो गयी. मेरी धड़कन तेज़ हो गयी. यक़ीनन, जानते-बूझते अंधेरा किया गया होगा. लगा कि लड़की शायद मेरे कुछ और क़रीब सरक आयी है. और एक ख़ास तरह की आश्वस्ति की तलाश में मेरे हाथ पर अपना हाथ रखना चाह रही है. ऐसे में, क्या मैं उसके कंधे पर आश्वस्ति का हाथ रखकर यह कहूंगा कि घबराओ मत ! भले ही मैं हिंदू हूं लेकिन इन दरिंदों से तुम्हें बचाऊंगा. जैसा कि कुछ हिंदू या मुसलमान करते बताये-सुने गये हैं. तब सारे अविश्वासों के बीच और बावजूद कोई और सूरत नहीं होने में विश्वास करने की कोशिश करेगी. हारती हुई उम्मीद से पैदा होने वाला विश्वास ! डूब रहे व्यक्ति के किसी तिनके पर किये जा रहे विश्वास की तरह. भले ही मेरी नज़र में भी खोट हो ! ऐसे खोट सामने रहे होने के बावजूद कभी-कभी नज़र अंदाज़ कर दिये जाते हैं.

'ड्राइवर साब, क्या इरादा है ! साली ने क्या ख़ुद अंधेरा कर दिया ?' अंधेरे में से एक अश्लील प्रश्न उभरा. ठहाका लगा. तभी लाइट जल गयी. थोड़ी-सी राहत महसूस हुई. तभी बस स्टार्ट हो गयी. मैंने उसकी ओर देखा. उसने मेरी ओर. पता नहीं इससे उसने कितनी राहत महसूस की थी. शायद थोड़ी-बहुत की हो ! या बिल्कुल भी नही की हो ! यूं भी, फिलवक़्त राहत महसूस करने जैसा कुछ नहीं था. जंगल और घाट दोनों अभी काफी बाक़ी थे. आधे से काफ़ी ज़्यादा ! और उनमें कई सारी जगहें कहीं ज़्यादा अकेली, सूनी और डरावनी थीं. दो साल पहले कोट खेड़ा का हाट करके लौट रहे गुड़ के व्यापारी की लाश वहीं मिली थी. लाश के पास पानी की बॉटल, खाने के पैकेट भी मिले थे. यानी क़त्ल काफ़ी इत्मीनान से किया गया था. लाश की काफ़ी बुरी हालत की गयी. उसके बाद खाना-पीना हुआ था और फिर क़ातिल चले गये थे. शायद काफ़ी आराम और बेफ़िक्री के साथ ! लाश का पता सुबह पहली बस के उस तरफ़ से निकलने पर ही चला था.

सामने से अचानक एक जीप आती नज़र आयी. लगा कि खिड़की में से गर्दन निकाल कर चीख़ना चाहिए और जीप रुकवा लेना चाहिए. बचाव की कोई सूरत तो निकल ही आयेगी. हालांकि, बस की आवाज़ में मेरे चीख़ने-चिल्लाने की आवाज़ सुन ली जायेगी. इस बारे में तय जैसा नहीं था. फिर भी कोशिश तो की ही जा सकती थी. मैं तय जैसा कुछ कर ही रहा था.

ग़ज़ल

✍ देवेंद्र पाठक 'महरूम'

जहां न अपना आबो-दाना ।
रहा नहीं उस ठौर ठिकाना ।।
सुख से दूर की रिश्तेदारी;
है दुख से गहरा याराना ।।
मर गया पानी आंख का जिनके;
उनके लिए क्या अश्क बहाना ।।
गूंगे-बहरों की बस्ती में;
किसको सुनना, किसे सुनाना ।।
ख़ुशियां अब तक मिली नहीं पर;
ग़म-ही-ग़म मिलते रोज़ाना ।।
आख़िरी ख़त में उसने लिखा था;
याद न करना, याद न आना ।।
मेरे सबब कुछ कहना न उससे;
उसका हाल मुझे बतलाना ।।
रोज़-रोज़ मरता-जीता है;
'होरी' का किरदार पुराना ।।
वो ज़ख़्मे-दिल तुमने दिये जो-
क्या 'महरूम' तुम्हें दिखलाना ।।

✉ प्रेमनगर, खिरहनी (दक्षिण),
साइंस-कॉलेज डाकघर, कटनी ४८३ ५०१

तभी जीप बस के एकदम सामने आकर रुक गयी. ड्राइवर से कुछ पूछा गया. फिर तीन-चार लोग जीप से उतर कर बस में आये. लड़की पर नज़र डाली.

'परवीन, हम तुम्हें ही लेने आ रहे थे. चलो, जीप में बैठो!'

'जी, भाईजान !'

लड़की ने कहा. फटा-फट बैग उठाया. बच्चे को लिया. और उतर गयी. मैं उसका चेहरा देख और पढ़ पाऊं इसके पहले चेहरा अंधेरे में चला गया.

अब तक जीप पलटा ली गयी थी. लड़की के साथ उन लोगों के बैठते ही तेज़ी से चल दी.

यह सब कुछ थोड़े-से पलों में हुआ. मैं अपनी प्रतिक्रिया समझने की कोशिश कर रहा था. बस चल दी थी. उन लोगों को क्या लगा होगा ? क्या कोई गहरे पछतावे जैसा ! एक बेहद ख़ूबसूरत मौक़ा हाथ से निकल जाने का पछतावा ! पता नहीं ! हालांकि, उनका हंसी-मज़ाक़ फिर से शुरू हो गया था.

✉ १५५, एल. आई. सी. मुखर्जी नगर,
देवास (म. प्र.) ४५५ ००१

कहानी

मरब्बे

'पंडित जी सुना है सरकार हमारे इलाक़े में डैम बनाने जा रही है, घसीटू बोला.

"हां कुछ-कुछ ऐसा मैंने भी सुना है."

"अगर यहां डैम बन गया तो हम लोगों के दिन फिर गये." घसीटू खुशी से अपना कुप्पा सा मुंह फुलाकर बोला.

ये दोनों लंगड़े हलवाई की दुकान पर बैठे चाय की चुस्कियां ले रहे थे कि सामने से पंचायत प्रधान ठकुर लच्छीयाराम भी मूंछों को ताव देते हुए क़ारिंदों के साथ आते दिखे तो बिहारी पंडित हाथ जोड़ बोला, "जयरामजी की प्रधान जी, आइए चाय पीजिए."

"ओ जय-जय पंडित जी, क्या महफ़िल लगी है."

"कुछ नहीं. प्रधान जी सुना है सरकार यहां कोई बड़ा डैम बना रही है. आपको तो सरकार की सारी ख़बर रहती है, क्या यह सच है ?"

बीच में लंगड़ा हलवई भी बोला, "प्रधान जी अगर यहां डैम बन गया तो हमारा क्या होगा ? आप ही सरकार को समझाओ कुछ."

"ओए, हलवाई तूं न घबरा मैं यहां डैम नहीं बनने दूंगा. विधायक जी थोड़ा ज़ोर डाल रहे हैं, मैंने कह दिया है लोगों की ज़मीन के बदले दुगुनी ज़मीन दो और घरों के बदले दुगुना पैसा तब विचार होगा. तुम लोगों ने मुझे प्रधान चुना है मैं तुम्हारा घाटा न होने दूंगा. बस जैसा मैं कहूं वैसा ही करना."

इतने में जुबली हाईवे की बस आकर रुकी और प्रधान जी अपने क़ारिंदों के साथ उसमें बैठ चले गये.

ठकरां दा बेहड़ा गांव में ठकुर ही नहीं ब्राह्मणों की तादाद भी ज़्यादा थी. अन्य जातियों के लोग भी यहां रहते थे. लेकिन ठकुरों व ब्राह्मणों का यहां बाहुल्य था. यह गांव ब्यास नदी के किनारे बसा था. यहां पर बिजली के प्रॉजेक्ट का सर्वे काफ़ी पहले हुआ था और अब लोगों से ज़मीन ली जा रही थी. बिहारी पंडित की चिंता बढ़ने लगी क्योंकि उसकी यजमानी वाले सभी दस गांव इस डैम में समाने जा रहे हैं. उधर जयलाल का भी यही हाल है. उसकी दस बीघा ज़मीन ब्यास के किनारे थी, जो कि सोना उगलती थी. गांव के बूढ़े बोटी हरिया को इस मिट्टी से जुड़ी यादों से जुदा हो जाने का दुख था.

आज इन सभी दस गांवों के लोगों को माल महकमे ने पंचायत घर में बुलाया था. तहसीलदार साब के साथ क़ानूनगो, पटवारी, प्रधान, पंचायत सेक्रेटरी तथा कुछ और अफसर भी थे.

तहसीलदार साब ने बात शुरू की, "भाइयों भारत सरकार यहां पर बिजली का बहुत बड़ा प्रॉजेक्ट बनाने जा रही है. जिसके डैम में आपके गांव समा जायेंगे.. सरकार आपको ज़मीन के बदले मरब्बे देगी और घरों व मवेशीख़ानों के बदले अच्छा पैसा. आप सब लोगों को मैं आज नोटिस देने आया हूं. जिस-जिस का नाम पुकारा जाये वह आगे आता जाये.

"हमें अपनी मिट्टी से जुदा करने का हक़ आपको हरगिज़ नहीं है. क्या आज का दिन देखने के लिए हमने आज़ादी हासिल की थी. ऐसा ज़ुल्म मत करो." बूढ़े बोटी हरिये ने भर गले से यह बात कही. इतने में जयलाल भी बोल उठा, "सरकार, ऐसा मत करो, हम दिन रात मेहनत कर अपने पुरखों की ज़मीन का अन्न खा रहे हैं. इसे हमसे न छीनो.'

राजीव पत्थरिया

भाई तुम्हारे लिए तो यह ख़ुश होने की बात है. तुम्हें अपनी ज़मीन जायदाद का दुगुना मिलेगा, जिससे तुम लोगों के तो दिन बदल जायेंगे." कुर्सी पर बैठे गंजे अधेड़ ने कहा. यह प्रॉजेक्ट कंपनी का नुमाइंदा हरीश कपूर था.

"ख़ाक दिन फिरेंगे, हमारे रीति-रिवाज, मंदिर, यहां की संस्कृति और पूर्वजों के बरसेले झील में दफ़न होकर रह जायेंगे. पितरों की आत्माएं हमें जीने नहीं देंगी," बिहारी पंडित ने इतने जोश में कहा कि सब लोगों ने उसकी हां में हां मिलायी.

लोगों के उग्र रूप को देख तहसीलदार ने प्रधान जी के कान में कुछ कह दिया और वह सबको शांत करते हुए बोले, "सुनो भाइयों सरकार हमारे हितों को ध्यान में रखकर यह काम कर रही है तुम लोग क़ानूनगो जी से अपने-अपने काग़ज़ ले लो."

लोगों के तीखे प्रश्नों ने अब प्रधान जी को घेर लिया. लेकिन वह अपनी मीठी बातों से लोगों को संतुष्ट करने में सफल रहे. राजस्थान में इंदिरा नहर के साथ मिलने वाले मरब्बे के लालच में सब लोग आ गये. प्रधान जी ने बताया कि मरब्बे में होने वाली फ़सल का हर साल ५०-६० हज़ार रुपया घर बैठे मिलेगा.

"घसीटू, सरकार ने पैसे तो दिये नहीं यह काग़ज़ पकड़ा दिया," अनपढ़ बेलीराम ने पूछा.

"मुआ, ऐ नोटिस है. इसके बाद तेरी ज़मीन सरकार अपने कब्ज़े में लेगी. पैसे बाद में मिलेंगे."

बिहारी पंडित गुस्से में पैर पटकता हुआ घर पहुंच गया. उसकी पत्नी बशंभरी ने उसे पानी दिया और हाथ-मुंह धुलवाया.

"अजी, किसी से झगड़ा हो गया क्या ?"

"नहीं सरकार ने हमें अपनी ज़मीन-जायदाद छोड़ने के नोटिस दे दिये हैं. मैं तुम्हें व बच्चों को लेकर कहां जाऊंगा ?"

"चिंता न करो सभी लोग जा रहे हैं, हम भी कहीं चले जायेगें."

"बशंभरी, तेरा दिमाग ख़राब है. मेरे घर का चूल्हा मेरी यजमानी से चलता है. दूसरी जगह एकदम यजमानी नहीं मिलेगी. दूसरा काम मुझे आता नहीं है."

दोनों पति-पत्नी अब भविष्य की चिंता में खो गये. गांव के बाक़ी घरों में भी लोगों की चिंता का कारण यही था. मगर मरब्बे से होने वाली आमदनी की बात सोचकर ये लोग मन को तसल्ली दे रहे थे. ठकरां दा बेहड़ा गांव की चौपाल व लंगड़े हलवाई की दुकान पर सब लोग एक-दूसरे से बिछुड़ने की चर्चाएं करने लगे. कुछ दनों बाद तहसीलदार व प्रॉजेक्ट के अफ़सर सबको मुआवज़े की पहली किश्त बांट कर चले गये. पैसा पाकर बिहारी पंडित को ख़ुशी हुई लेकिन घर पहुंचते ही इस माटी से बिछुड़ने के ग़म से उसे रूला डाला. किसी ने इस पैसे से साहूकार का कर्ज़ा उतारा तो किसी ने बच्चों को किताबें व वर्दी ख़रीदकर दीं. घसीटू पैसे लेकर सीधा किशोरी लाल की देसी शराब की भट्ठी में पहुंच गया.

"घसीटू, तुझे तो बहुत पैसे मिले होंगे. यार एक पेग तो पिला दे," धर्मू ने बहकते हुए कहा.

"लाला, एक अध्धा दे और एक पाव किलो मछली फ़राई कर दे, दो गिलास भी देना."

घसीटू ने दो पेग डाले और एक धर्मू की तरफ बढ़ा दिया. घसीटू ने जल्दी से बोतल में बची शराब का पटियाला पेग बनाया और गटक गया.

धर्मू ने बहकते हुए पूछा, "यार तुम लोगों ने सरकार से पैसे तो ले लिये लेकिन रहोगे कहां ?. मैं तो डैम के किनारे कहीं पर झोपड़ी बनाकर रह लूंगा."

धर्मू की गांव में न तो कहीं ज़मीन है और न ही उसका परिवार. दिन भर मेहनत-मज़दूरी करता और शाम को शराब पी लेता. नाम के लिए पास के गांव में उसके चाचा-चाची थे लेकिन वह बचपन से ही अनाथ था. उसकी मां उसे जन्म देते ही मर गयी और जब वह सात साल का था तो बाप इसी ब्यास में बह गया. गांव के लोगों के छोटे-बड़े काम करके वह पला था.

"धर्मू हम सब कुछ ही दिनों में बिछुड़ जायेंगे न यह ज़मीन हमारी रहेगी और न ही ब्यास का पानी. धर्मू तूं ख़ुशनसीब है जो यहीं रहेगा. हम परिवार वालों को तो रोज़ी की ग़र्ज़ से कहीं तो बसना ही होगा."

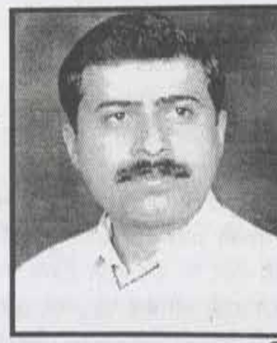

राजीव पठरिया

१८ दिसंबर १९७८, (हि. प्र.), कांगड़ा;

कला स्नातक, पत्रकारिता एवं जनसंचार में डिप्लोमा

लेखन : देश के प्रतिष्ठित समाचारपत्रों व पत्रिकाओं में लेख व फीचर, कहानी तथा ग़ज़लें प्रकाशित. १९९६ से हिंदी पत्रकारिता और १९९८ में सक्रिय पत्रकार के रूप में कार्यरत. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोक अंवेषणों को समर्पित 'मखीर' पत्रिका, राष्ट्रीय स्तर पर पंचायतीराज पर प्रकाशित 'पंच-परमेश्वर' न्यूज लेटर का संपादन.

विशेष : पर्यावरण एवं ग्रामीण जागृति संस्थान द्वारा गणेश शंकर विद्यार्थी पत्रकारिता फैलोशिप प्रदान की गयी.

सम्मान : हिमाचल सरकार द्वारा विकासात्मक पत्रकारिता में योगदान हेतु २००० का पुरस्कार प्रदान किया गया. करीब ६ सामाजिक व मीडिया से संबंधित संगठनों द्वारा हिंदी पत्रकारिता में विशेष योगदान हेतु सम्मानित.

संप्रति : दैनिक भास्कर के क्षेत्रीय कार्यालय मंडी में ब्यूरो प्रमुख के पद पर कार्यरत.

बिहारी पंडित ने सुबह बस पकड़ी और अपने मामा के गांव हटली पहुंच गया. वह यहां पर बिक रहे एक मकान व एक बीघा ज़मीन के सौदे के लिए आया था. हटली के पटवारी व मामा की मदद से सौदा पक्का हो गया. उस रात मामा के यहां रूक गया. अगले दिन तहसील जाकर बिहारी ने सारे काम भी निपटा लिये. इसी गांव में एक और मकान बिक रहा था, सो बिहारी ने अपने दूर के रिश्तेदार लंगड़े हलवाई को उसके बारे में बताया.

"बिहारी, तू बस रहा है तो वह गांव अच्छा ही होगा. वहां मेरी दुकान चल पड़ेगी न."

"हां, क्यों नहीं. बस स्टॉप पर पांच-छः दुकानें हैं. तुम कल हटली जाकर मामा जी से मिल लेना वे सौदा करवा देंगे."

धीरे-धीरे सब लोग अपना-अपना सामान समेट कर गांव छोड़कर जाने लगे. सबने अपनी सहूलियत से नये ठिकाने ढूंढ लिये थे. लेकिन पुरखों की इस ज़मीन से जुदा होने का ग़म उन्हें रूला रहा था. धर्मू रोते-रोते सबका सामान ट्रक में लाद देता था. उसे

सरकार से पैसे व मरब्बे की चाह नहीं थी, वह चाहता था कि यह गांव न उजड़े. उसे गांववालों से बिछुड़ने का ग़म साल रहा था. आज बिहारी पंडित का परिवार भी जा रहा था. उन्हें विदा करने के लिए बहुत कम लोग थे. क्योंकि ज़्यादातर लोग पहले ही गांव छोड़ चुके थे. बशंभरी गांव की महिलाओं से गले मिलते हुए सुबक रही थी. बिहारी ने ट्रक में बैठकर आखिरी नजर अपने घर पर डाली तो उसकी आंखें भर आयीं. ट्रक थोड़ा आगे पहुंचा तो भगवान शिव के मंदिर को देख उसने अंतिम अरदास की. गांव के टियाले पर आज कोई नहीं बैठा था, लंगड़े हलवाई की दुकान भी बंद थी, वह भी यहां से निकलने की तैयारी में लगा हुआ था. जिस मिट्टी को बिहारी के पुरखों ने कर्मभूमि बनाया था. आज वह उससे सदा के लिए नाता तोड़कर जा रहा था. इस मिट्टी में मिली उसके पुरखों की आत्माओं की आवाज़े सारे सफ़र में उसके कानों में गूंजती रहीं.

❒

बिहारी पंडित ने हटली में यजमानी बनाने की बहुत कोशिश की लेकिन वह सफल नहीं हो सका. लंगड़े हलवाई को बस स्टॉप पर दुकान मिल गयी थी. उसका काम अच्छा चल निकला. बिहारी पंडित ने तंग आकर घोड़े पाल लिये और सामान वग़ैरह ढोने का काम करने लगा. जैसे-तैसे परिवार की रोज़ी चलने लगी. छप्पन भोग करने के आदी बिहारी को अब रूखी-सूखी रोटी ही नसीब हो रही थी. हटली में पहले ही हरिश्चंद पंडित की यजमानी थी सो लोग उसे किसी हवन तक में भी नहीं बुलाते थे. सरकार लंबे समय से मरब्बे देने के आश्वासन दे रही थी, लेकिन कहां इतने लोगों को जगह दी जाये यह योजनाएं फाइलों में दबी पड़ी थी. हाथ में पैसा न होते हुए भी बिहारी ने क़र्ज़ उठाकर बड़ी बेटी रानी के हाथ पीले कर दिये. उसे आस थी कि मरब्बे मिलते ही पहली फ़सल को बेचकर संतु लाला के कुछ पैसे चुका देगा, बाक़ी पैसे धीरे-धीरे दे देगा. आखिर तीन-चार साल बाद सरकार ने सबको राजस्थान के अनूपगढ़ में मरब्बे दे दिये. बिहारी भी मुरब्बे का क़ब्ज़ा लेने लंगड़े हलवाई के बेटे जोगिंद्र के साथ अनूपगढ़ पहुंच गया. वहां अधिकारियों को काग़ज़ दिखाने के बाद उन्हें अपने-अपने मरब्बे दिखा दिये गये. दोनों मरब्बों में मूंगफली की फसल खड़ी थी, और मिट्टी के कोठे बने हुए थे.

"ताऊ जी यहां तो पहले से किसी का क़ब्ज़ा है."

जोगिंद्र की बात बिहारी ने साथ आये सरकारी अफ़सर को कही, "बाबू जी हमें क़ब्ज़ा दिलवा दो."

"हमने आपको मरब्बा दिखा दिया बस, अब ख़ुद इन जाटों से बात कर लो. इनसे कब्जे छुड़ाने की काफ़ी कोशिश हम कर चुके हैं. बेहतर होगा कि तुम इन्हें अपने खेत ठेके पर दे दो. यह सलाह देते हुए सरकारी अफ़सर वहां से चलता बना.

बिहारी ने कोठे के बाहर से आवाज़ लगाई तो लंबा-तगड़ा एक आदमी बाहर निकला, "क्या है भई."

"जी, यह मरब्बा मुझे सरकार ने दिया है मेरा नाम बिहारी है. हिमाचल से आया हूं."

"आओ जी, बैठो मेरा नाम कर्म सिंह है. अरी धन्नो ठंडा पानी तो ला."

"आप कब से यहां पर फसल उगा रहे हैं."

"कई साल हो गये जी. अब आपके नाम यह ज़मीन हो गयी है. लेकिन आप तो हिमाचल ही रहेंगे और ज़मीन ठेके पर देंगे. हमसे ही ठेका कर लो."

कर्म सिंह की बातें सुनकर बिहारी डर गया.

'ठीक है जी, आप ही जोतो इन खेतों को एक साल में दोनों फ़सलों का कितना हिस्सा दोगे."

"आधी फसल तुम्हारी आधी हमारी. साल बाद आकर हिसाब ले लिया करो या फिर हम पैसा भेज दिया करेंगे."

"ठीक है कर्म सिंह जी, इस फसल का हिस्सा तो आप आज ही दे दो."

"बिहारीजी, क्या बात करते हो. तुम्हें ज़मीन आज ही मिली है और यह फसल मैंने पहले भी बोयी है. हिस्सा तो अब अगली फसल का मिलेगा."

कर्म सिंह इस बार गुस्से में बोला, "तो बिहारी ठीक है." कहकर वहां से निकल गया. लंगड़े हलवाई के मरब्बे का भी यही हाल था, सो जोगिंद्र ने भी फ़सल का ठेका दे दिया.

साल बीत गया लेकिन न तो बिहारी को उसकी फसल का हिस्सा मिला और न ही लंगड़े हलवाई को. अनूपगढ़ से चिट्ठी आयी. जिसमें जाटों ने लिखा था कि मौसम की ख़राबी से फसल नष्ट हो गयी सो अगली फसल कटते ही हिस्सा भेज देंगे. चिट्ठी पढ़ते ही बिहारी का चेहरा फ़क पड़ गया. संतु लाला को पैसा लौटाने के लिए उसे यही एक उम्मीद थी. उसने एक घोड़ा लिया और उसे बाज़ार जाकर बेच आया. जो पैसे मिले उसे संतु लाला को दे आया.

लंगड़े हलवाई ने मरब्बे को बेचने का मन बना लिया. जो दुकान उसने किराए पर ली थी वह बिक रही थी, लेकिन दाम बहुत ज़्यादा थे. इसलिए लंगड़ा हलवाई मरब्बा बेचना चाहता था.

वह अपने बेटे के साथ अनूपगढ़ पहुंच गया. वहां कई दिन रहने के बाद भी उसे मरब्बे का कोई ख़रीददार नहीं मिला. क्योंकि जाटों से कब्जे छुड़ाना किसी के बस में नही था. इसलिए कोई ऐसा सौदा करना नहीं चाहता था. आख़िर जाटों से फसल का हिस्सा लेकर वह लौट आया. जाटों ने फसल का हिस्सा बहुत कम दिया था.

लंगड़ा हलवाई मायूस होकर सरकार को कोसने लगा. उसने दुकान ख़रीदने के लिए पेशगी दे दी थी और पंद्रह दिनों में ही

बाकी पैसा देने का इक़रारनामा लिखा था. अब पैसा न देने पर उसकी पेशगी रक़म डूबेगी ही और साथ ही दुकान मालिक उसे किसी और को बेच देगा.

फसल के आधे हिस्से के रुपये में पांच सौ रुपये पाकर बिहारी पंडित का चेहरा गुस्से से तमतमा गया.

"तुझे उनसे पूरे पैसे वसुलने चाहिए थे. पता है एक फसल बीस हज़ार रुपये से कम नहीं जाती."

"बिहारी उन जाटों से कौन मुंह लगाये. सुना है अपना रसम सिंह उनसे भिड़ गया और आज तक उसका कुछ पता नहीं है."

"ऐसी की तैसी उनकी. अगली फसल का हिस्सा लेने मैं ख़ुद जाऊंगा." यह कहता हुआ बिहारी पैर पटकता हुआ वहां से निकल गया.

जिस मरब्बे को लेकर इन दोनों ने सुनहरे भविष्य की सोची थी वह अब इनके लिए कभी हक़ीक़त में न बदलने वाले सपने बन गये थे. लंगड़े हलवाई को नये मालिक ने दुकान से बाहर कर दिया था. वह शहर जाकर मिठाई की बड़ी दुकानों पर दिहाड़ी पर मिठाइयां बनाने लगा था. उसका बड़ा बेटा जोगिंद्र शादी-त्यौहारों में खाना बनाने का काम करने लगा. उधर संतु लाला ने तक़ाज़ा शुरू कर दिया. जिससे बिहारी परेशान रहने लगा. ठकरां दा वेहड़ा में इन दोनों परिवारों की रसोई दिन भर चलती थी. हर आने जाने वाले को यह खाना खिलाकर भेजते थे. लेकिन यहां रूखी-सूखी रोटी उनकी क़िस्मत बन गयी. पुराने मकानों के स्लेट टूट गये थे और लकड़ी को दीमक आ रही थी. मगर मरम्मत के लिए बिहारी व लंगड़े हलवाई के पास पैसे नहीं थे. बिहारी ने अपनी पत्नी बिशंभरी के सोने के बड़े कंगन प्यारु सुनियारे को बेचे और कुछ पैसे संतु लाला को देकर उसका मुंह बंद किया. कुछ पैसे उसने अनूपगढ़ जाने के लिए बचाकर रख लिये.

फ़सल कट गयी थी. इसलिए बिहारी अनूपगढ़ रवाना हो गया. ट्रेन में बैठ वह सोच रहा था कि इस बार सीधे बात करूंगा कर्म सिंह जाट से. ट्रेन ब्यास से गुज़री तो बिहारी खिड़की से अपना गांव देखने लगा. वहां उसके गांव का कोई-नामोनिशां नहीं था. पानी ही पानी था. हां, ऊंचे पहाड़ अभी भी मौजूदगी की हाज़िरी दे रहे थे. ट्रेन थोड़ी आगे पहुंची तो किनारे पार बड़ी-बड़ी इमारतें बनी हुई थीं, जो कि प्रॉजेक्ट कंपनी की थीं. तीन-चार साल में ही सारा नक्शा बदल गया था. पंजाब व अन्य राज्यों के लोग डैम पर काम करते थे.. प्रॉजेक्ट क्षेत्र अब निकल गया था और भरमाड़ रेलवे स्टेशन आ गया था. ठकरां दा वेहड़ा गांव के लोगों को रेल पकड़ने के लिए इसी स्टेशन पर आना पड़ता था. यहां पठानकोट से आने वाली रेल क्रॉस होती थी. सो गाड़ी यहां पर बीस मिनट रुकती थी. बिहारी स्टेशन पर उतर गया. उसने नल से पानी पिया और घूमने लगा. अचानक उसे अपने गांव का जयलाल दिखायी दिया. ठकरा दा वेहड़ा में खेतीबाड़ी में जी-तोड़ मेहनत कर जयलाल अच्छी कमाई कर लेता था. मगर यह क्या वही जयलाल आज स्टेशन पर हाथ में टोकरी लिये फल बेच रहा था. बिहारी को झटका लगा.

"जयलाल, यार तू यहां कैसे. तू तो कहता था कि राजस्थान जाकर मरब्बा संभालेगा और वहीं अपनी खेतीबाड़ी जमायेगा."

"जयराम जी की पंडत जी, आज आपको सामने देखकर दिल ख़ुश हो गया. अब तो अपने गांव का कोई-कोई ही मिलता है. सब लोग दूर-दूर बस गये हैं. मेरी हालत तो आपने देख ही ली है. मरब्बा तो मेरे जीवन में क़हर बरपा गया."

"आप अपनी सुनाइए घर में सब ठीक हैं, बच्चे तो काम-धंधे पर लग गये होंगे."

"जयलाल, अपनी मिट्टी से जुदा होने के बाद ज़िंदगी बोझ सी लगने लगी है. बच्चों की पढ़ाई बीच में ही छुड़ाकर उन्हें खराद का काम सीखने के लिए लुधियाना भेज दिया. रानी की शादी कर दी बस. तूं सुना यार तूने इस बीच क्या किया ?"

"आपसे क्या छुपाना पंडित जी, मैं परिवार के साथ सरकार से मिले पैसे व सारा सामान समेट कर अनूपगढ़ चला गया. वहां मेरे मरब्बे पर जाटों का कब्ज़ा था. सरकार व पुलिस के कई चक्कर काटे लेकिन जाटों ने मरब्बे से कब्ज़ा नहीं हटाया. हम किराये के मकान में रहे. आख़िर एक बिचौलिये की मदद से तीस हज़ार रुपया जाटों को दिया फिर उन्होंने मरब्बा छोड़ा. मिट्टी का कोठा बनाकर मैं वहां रहने लगा. खेत पर काम करते हुए लाजो को गर्मी की तेज़ लू लग गयी. आठ-दस दिन में वह मर गयी. जो पैसे प्रॉजेक्ट वालों ने दिये थे वे अब ख़त्म हो गये थे. मूंगफली की फसल को खरीदने के लिए कोई ग्राहक हमें नहीं मिल रहा

ग़ज़ल

✍ राजेंद्र वर्मा

अच्छा हुआ, देवत्व से परिचय नहीं हुआ,
अच्छा हुआ, मनुष्यता का क्षय नहीं हुआ।

मैं साथ-साथ रहके भी एकाकी रह गया,
मुझसे अद्वैत-भाव का अभिनय नहीं हुआ।

गुरुदक्षिणा चुका के मैं 'एकलव्य' हो गया,
गुरुवर का वध करा के 'धनंजय' नहीं हुआ।

यद्यपि मुझे भी स्वर्ण-मृग लुभावना लगा,
लेकिन मैं स्वर्ण के लिए निर्दय नहीं हुआ।

रामायणों को बांचते जीवन गुज़र गया,
पर अंतरंग है कि राममय नहीं हुआ।

३/२९, विकास नगर, लखनऊ-२२६ ०२२

था. क्योंकि हम वहां नये थे और सब आढ़ती जाटों के साथ थे. बेटे मदन ने एक आढ़ती के साथ घाटे में ही सौदा किया मगर जाटों ने झगड़ा कर दिया. मेरे मदन को उन्होंने मार डाला. पुलिस ने रपट तक दर्ज नहीं की. बेटी कृष्णा को जाटों के बेटे छेड़ने लगे. मैं डर गया और रातोंरात सब कुछ वहीं छोड़कर वापिस आ गया. आकर गांव गया तो वहां मेरा आधा घर पानी में समा चुका था. कुछ दिन रिश्तेदारों के यहां गुज़ारे. अब यहीं स्टेशन के पास किराये के एक कमरे में रहता हूं. सारा दिन स्टेशन पर फल वग़ैरह बेच लेता हूं. कुलीगिरी भी कर लेता हूं. जयलाल की आंखों से आंसू छलकने लगे. जिन्हें देख बिहारी पंडित भी रो पड़ा.

गार्ड ने सीटी बजा दी थी और रेल का हॉर्न भी गूंजने लगा सो बिहारी वापिसी में फिर मिलने की बात कर गाड़ी में बैठ गया.

अनूपगढ़ में पहुंचते ही बिहारी सीधा कर्म सिंह जाट के पास पहुंच गया. पहले तो दोनों में फसल के हिस्से को लेकर काफ़ी बहस हुई फिर बिहारी ने साफ़ कह दिया कि वह मरब्बा बेच रहा है तुझे लेना है तो कल दो लाख रुपये लेकर सराय में आ जाना. कर्म सिंह का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुंच गया. वह रात को ही अपने बेटों के साथ सराय में पहुंच गया और बूढ़े बिहारी पंडित की बेदर्दी से पिटाई कर दी. बिहारी बेहोश हो गया सुबह सराय वालों ने हकीम जी को बुलाया और उसे दवा दिलवायी. सराय के मॅनेजर ने बिहारी को समझाया कि जाटों से उलझना ठीक नहीं है. बेहतर होगा तुम घर लौट जाओ. हकीम जी के इलाज से भी वह ठीक नहीं हो सका. वह चलने-फिरने में भी लाचार हो गया. सो मैनेजर ने उसके बड़े बेटे रविंद्र को लुधियाना में तार भेज दिया. रविंद्र ने सारी बात सुनी और बाप को साथ गांव ले गया. भरमाड़ रेलवे स्टेशन पर उनकी गाड़ी दोपहर को पहुंची. बिहारी की आंख लगी हुई थी. जयलाल, 'केले, ले लो' कहता डिब्बे में चढ़ गया. वह केले बेचने लगा. उसकी नज़र बिहारी पर पड़ी.

"पंडित जी आ गये, क्या हुआ."

"हां, जयलाल."

"क्या हुआ पंडित जी तबीयत तो ठीक है ?"

"मरब्बे ने मेरी भी आधी जान ले ली है." बिहारी का चेहरा पीला पड़ गया था और आंखें सफ़ेद. बिहारी ने अनूपगढ़ में घटी सारी घटना जयलाल को सुनायी. रविंद्र बाहर पानी लेने गया था. वह भी सीट पर बैठ गया. गाड़ी चलने लगी सो जयलाल तेज़ी से उतर गया. गांव पहुंचने के बाद बिहारी बिस्तर से लग गया. उसने अपने तीनों बेटों को अनूपगढ़ के मरब्बे को भूल जाने की सलाह दी. पूरा एक साल बिस्तर पर रहने के बाद वह मर गया. संतु लाला का क़र्ज़ मुरने की तरह खड़ा रहा.

१४७/१०, मंडी - १७५००१ (हि. प्र.)

दो ग़ज़लें

देवमणि पांडेय

(१)

सबसे दिल का हाल न कहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं,
जो कुछ भी गुज़रे ख़ुद पर सहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं.

हो सकता है इससे दिल का बोझ ज़रा कम हो जाये,
क़तरा क़तरा आंख से बहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं.

इस जीवन की राह कठिन है, पांव में छाले पड़ते हैं,
मगर हमेशा सफ़र में रहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं.

नये रंग में ढली है दुनिया प्यार पे लेकिन पहरे हैं,
ख़्वाब सुहाने बुनते रहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं.

प्यार को अब तक दुनिया ने जाने कितने नाम दिये,
हमने कहा ख़ुशबू का गहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं.

उसकी यादों से रोशन है अब तक दिल का हर कोना,
मिल जाये तो उससे कहना, लोग तो कुछ भी कहते हैं.

(२)

ख़्वाब सुहाने दिल को घायल कर जाते हैं कभी कभी,
अश्कों से आंखों के प्याले भर जाते हैं कभी कभी.

इस नगरी में मिल जाते हैं ऐसे भी कुछ दीवाने,
रातों-दिन सड़कों पर भटकें घर जाते हैं कभी कभी.

पल पल इनके साथ रहो तुम इन्हें अकेला मत छोड़ो,
अपने साये से भी बच्चे डर जाते हैं कभी कभी.

खेतों को चिड़ियां चुग जातीं बीते कल की बात हुई,
अब तो मौसम भी फ़सलों को चर जाते हैं कभी कभी.

आंख मूंदकर यार किसी पर कभी भरोसा मत करना,
अपने दोस्त भी सर पे तोहमत धर जाते हैं कभी कभी.

अपने जैसे इंसानों के दुख की जिनको फ़िक्र नहीं,
ऐसे इंसां बिना मौत ही मर जाते हैं कभी कभी.

जलते हैं जो सूरज बनकर और उजाला देते हैं,
ऐसे लोग जहां को रोशन कर जाते हैं कभी कभी.

ए-२, हैदराबाद इस्टेट, नेपियन सी रोड,
मालाबार हिल, मुंबई-४०० ०३६.

कहानी

और बांध टूट गया

हलके-से शोरगुल और चहलपहल की आवाजों से अंजना की नींद टूट गयी. बिस्तर पर लेटे-लेटे ही उसने आंखें खोलीं. सूर्योदय के पूर्व का, उषा का उजाला पूरब की खिड़की से भीतर आ गया था. कमरे की सारी चीज़े दिखाई देने लगी थीं. .....और कमरे में था ही क्या ? एक बिस्तर, जिस पर अंजना लेटी हुई है. एक कोने में छोटी-सी मेज़ और कुर्सी, मेज़ पर पड़ी हुई कुछ फाईलें, एक पेन स्टैंड, उसमें लगी कुछ पेन्स, सामने की दीवार पर टंगी हुई घड़ी और घड़ी के पास टंगी हुई एक पेंटिंग. एक ओर बाथरूम-टॉयलेट का दरवाज़ा और दूसरी ओर कमरे से बाहर निकलने का दरवाज़ा. इस दरवाज़े से सटी हुई बाल्कनी और बाल्कनी से नीचे उतरने वाली सीढ़ियां.

नीचे से आती हुई आवाज़ें अंजना सुनती रही. ये आवाज़ें काहे की हैं - यह वह जानती थी, फिर भी वह नहीं उठी. रोज़ सवेरे तड़के ही उठकर, झटपट तैयर होकर नीचे अपने रोज़ के कामों में वह जुट जाती थी. उस अंजना का मन आज जैसे बुझ-सा गया था. उठने की इच्छा ही नहीं हो रही थी.

लेकिन उठना तो था ही, कब तक पड़ी रहती ? उठी. बाथरूम जा कर ताज़ा हुई, मुंह पर पानी के छींटे मारे. ताज़गी महसूस हुई. तब दरवाज़ा खोल कर वह बाहर, बाल्कनी में पहुंची. रेलिंग से झुक कर नीचे देखने लगी.

अब तक उजाला और ज़्यादा हो गया था. सूरज बस, निकलने ही वाला था. नीचे का दृश्य साफ़-साफ़ दिखाई दे रहा था. पूरे अहाते की सफ़ाई हो रही थी. मैदान में पानी छिड़का जा रहा था. पेड़ों, पत्तों को भी नहलाया जा रहा था. एक ऊंची जगह पर कपड़े के बैनर पर बड़े-बड़े सुंदर अक्षरों में लिखा हुआ था.

"आधार" के नव-निर्मित प्रेक्षागृह का उद्‌घाटन

उद्‌घाटक : माननीय श्री गिरिधारीलालजी दीक्षित

अंजना सारी तैयारियां उदासीन मन से देख रही थी. जब उसकी निगाह कपड़े के बैनर पर पड़ी, तो वहीं टिकी रह गयी. "श्री गिरिधारीलालजी दीक्षित" इन अक्षरों को वह बड़ी देर तक एकटक देखती रही और सहसा उसकी आंखें छलछला आयीं. मुंहसे एक दीर्घ सांस निकल पड़ी. दोनों गालों पर आंसू बहने लगे. उसे लगा कि अब वह ज़ोर से रो पड़ेगी और नीचे काम करनेवाले उसकी ओर देखने लगेंगे. वह बाल्कनी से कमरे में लौट आयी और बिस्तर पर बैठकर सिसकियां भरभर कर रोने लगी. उसका सुंदर, मधुर अतीत उसके सामने साकार हो उठा.

अभी, दो वर्ष पूर्व तक कितनी सुखी थी अंजना ! वह और उसके पति गिरिधारी. शहर के सबसे पॉश एरिया में उनका अपना बंगला था - सुंदर, सुसज्जित, सभी आधुनिक सुविधाओं से संपन्न. बंगले के सामने बगीचा, लॉन, गैरेज में नयी चमचमाती मारुती एस्टीम कार. शहर के बाहर छोटी-सी टेक्स्टाइल फैक्टरी भरपूर आमदनी, संतुष्ट सुखी जीवन.

पति पत्नी दोनों एक दूसरे के अनुरूप थे. अंजना सुंदर, सुशील, आर्टस् ग्रेजुएट. गिरिधारी विज्ञान के स्नातक. स्वस्थ, सदृढ़, सुंदर. शहर के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति. प्रायः सभी सामाजिक, सांस्कृतिक समारोहों में उन्हें बुलाया जाता. वे भरसक सहयोग करते.

भगीरथ शुक्ल

उनका विवाह पांच साल पहले हुआ था, लेकिन अभी भी दोनों एक दूसरे को इस तरह चाहते थे, जैसे अभी, कल ही हनीमून से लौटे हैं. गिरिधारी को फैक्टरी से लौटने में ज़रा-सी देर हो जाती थी तो अंजना बेचैन हो जाती थी और गिरिधारी अपनी पत्नी के आलिंगन में तमाम चिंताओं, तनावों को भूल जाते थे. वे प्रायः ही कहा करते थे, "अंजना तुम कितनी सुंदर हो, कितनी पावन. बिलकुल हिमालय से निकली हुई गंगा की तरह."

अंजना पुलकित होकर कहती थी, "और आप इस गंगा के सागर हैं. अपने इस सागर में संपूर्ण समा जाने के लिए मैं हमेशा आतुर रहती हूं."

इस तरह दोनों के जीवन की रेलगाड़ी पटरी पर मज़े से दौड़ रही थी. लेकिन कभी-कभी रेलगाड़ी पटरी पर से उतर जाती है. अंजना-गिरिधारी की गाड़ी भी एक दिन पटरी से उतर गयी !

....उस दिन दोनों शहर से बाहर, पड़ोस के गांव में गये थे. उनके एक परिचित के बेटे का विवाह था. ड्राइवर उस दिन छुट्टी पर था, सो गिरिधारी को स्वयं कार चलाने पड़ी. विवाह संपन्न होते-होते काफ़ी समय बीत गया. रात के ग्यारह बज गये. सड़क सुनसान. आस पास जंगल. हेडलाईट की रोशनी में सड़क पर रखे हुए बड़े-बड़े पत्थर दिखाई दिये. विवशतः ही गिरिधारी को कार रोकनी ही पड़ी.

.....और चार पांच तगड़े, हिंसक दिखाई देने वाले

आदमियों ने कार को घेर लिया. सभी के हाथों में हथियार थे - चॉपर, साइकल चैन और देसी कट्टा भी.

अंजना के मुंह से चीख निकलते-निकलते रह गयी. सारा शरीर थरथराने लगा, चेहरा सफ़ेद हो गया. उसने अपने पति का हाथ थाम लिया.

गिरिधारी भी घबड़ा गये. हेडलाईट की रोशनी में खड़े हुए उन राक्षसों में से दो को उन्होंने पहचान लिया. खिड़की का कांच खोला और सिर बाहर निकालकर पूछा, "लक्ष्मण, कासम, क्या बात है ? गाड़ी क्यों रोकी ?"

अपने हाथ का चॉपर हवा में लहराते हुए कासम जोर से हंसा, फिर बोला, "शुक्र है मालिक आपने हमें पहचान तो लिया ! अब मेहरबानी करके आप दोनों गाड़ी से बाहर आ जाइए. तब आपको अपने आप पता चल जायेगा कि हमने गाड़ी किसलिए रोकी."

अपनी घबराहट पर किसी तरह क़ाबू पाकर गिरिधारी ने कहा, "देखो, हमारा रास्ता मत रोको, जाने दो हमें. कल सवेरे ऑफिस में आकर हमसे मिलो. वहीं आकर जो कुछ कहना है, कहो. हम सुनेंगे तुम्हारी बात."

"हा-हा-हा !" कासम ज़ोर से हंसा, "ऑफिस में मिलें, हम आपसे ?.....खूब कही ! ताकि आप हमें फिर से पुलिस को सौंप दें - क्यों ?"

तभी लक्ष्मण ने कहा, "कासम, बातों में वक़्त मत गंवाओ.....खींचो साहब और मैडम को बाहर और शुरू हो जाओ."

दो गुंडे आगे बढ़े. कार के दरवाज़े खोल कर अंजना और गिरिधारी को बाहर खींच लाये. दोनो ने अंजना को कसकर ज़कड़ लिया. फिर लक्ष्मण गिरिधारी पर लाठी बरसाने लगा. गिरिधारी नीचे गिर पड़े. उनके शरीर से ख़ून बहने लगा.

अंजना से यह देखा नहीं गया. वह ज़ोर से चीख़ने लगी - "अरे बदमाशों ! छोड़ दो ! ...छोड़ दो इन्हें. क्यों मार रहे हो ? ....क्या बिगाड़ा है इन्होंने तुम्हारा ?"

"बताता हूं कि क्या बिगाड़ा है !" लक्ष्मण के बदले कासम ने कहा, "हमें पुलिस से पिटवाया ! एक साल तक हम दोनों सड़ते रहे जेल में !"

लक्ष्मण ने कहा, "माना कि हमने फैक्टरी में चोरी की थी. पैसों के लिए थोड़ा सा माल चुराया था फैक्टरी से. ....लेकिन पैसों का मोह किसे नहीं होता ? तीन साल तक हमने फैक्टरी में मज़दूरी की थी. थोड़ा-सा माल चुरा लिया तो इसकी इतनी बड़ी सजा ?"

"इसलिए अब हम साहब को सज़ा दे रहे हैं." कहकर कासम ने साथियों से कहा, "देखते क्या हो ? साहब को उठाकर पटक दो कार में और पेट्रोल डाल कर फूंक दो कार को."

कासम के दो साथी सड़क पर पड़े हुए गिरिधारी की ओर

९ दिसंबर १९२८,

बी. ए (ऑनर्स), डी. एड., विशारद

लेखन : *पहली कहानी अप्रैल १९४६ में छपी. तबसे अविरल लेखन. हिंदी और मराठी की प्रायः प्रत्येक प्रतिष्ठित पत्रिका में तमाम कहानियां, धारावाहिक उपन्यास, एकांकिकाएं, लेख आदि प्रकाशित. 'कथाबिंब' में यह दूसरी कहानी.*

प्रकाशन : *हिंदी में आठ व मराठी में एक उपन्यास, कुछ काव्य-संग्रह व 'पथ के गवाह' - कहानी-संग्रह प्रकाशित.*

पुरस्कार : *हिंदी विश्व विद्यालय प्रयाग से दिनेश रजत पदक; रोटरी इंटरनेशनल क्लब से दीर्घ रचना पुरस्कार व जायेंट्स इंटरनेशनल क्लब से काव्य-रचना सम्मान.*

विशेष : *आकाशवाणी, विविध भारती, दूरदर्शन व अन्य कुछ चैनलों से भी रचनाएं प्रसारित.*

बढ़े ! तभी अंजना ज़ोर से चीख पड़ी- "नहींऽऽ नहींऽऽ ! मत मारो इन्हें .... मत जलाओऽऽऽ... छोड़ दोऽऽऽ ...."

"छोड़ दें ? ... अच्छा, छोड़ देंगे. " कहकर लक्ष्मण ने हाथ के इशारे से आगे बढ़ने वालों को रोक दिया; फिर कहा, "ज़रूर छोड़ देंगे, ... लेकिन एक शर्त पर !"

अंजना के चेहरे पर प्रश्न अंकित हो उठा.

लक्ष्मण उसकी ओर कुछ क्षणों तक देखता रहा, उसके सुंदर शरीर को अपनी वासना-भरी आंखों से घूरता रहा, फिर बोला, "शर्त यह है कि तुम अपनी मर्ज़ी से, ख़ुशी-ख़ुशी हमारे साथ चल पड़ो !"

तभी सड़क पर पड़े हुए गिरिधारी ने कराहती हुई आवाज़ में कहा, "न्....न्....नहीं.... अंजना....नहींऽऽ.... नहीं.....अं...ज...नाऽऽ....नहींऽऽऽ...."

उन्होंने उठने की कोशिश की; पर उठ नहीं पाये. लाठी की ज़ोरदार चोटें लगी थीं.

"नहीं ?" कासम ने कहा, "तो ठीक है ! पहले हम साहब की चिता जलायेंगे; फिर मैडम को ले जायेंगे ! ...अपनी मर्ज़ी

से नहीं, जबरदस्ती से ही सही ! ...मैडम, चलना तो आपको पड़ेगा ही हमारे साथ !"

"नहीं...नहीं!... मैं... मैं चलती हूं - चलती हूं तुम्हारे साथ... ख़ुशी से. ...अपनी मर्ज़ी से !..." अंजना ने रोते हुए कहा, "बस, साहब को मत मारो ! छोड़ दो इन्हें !" तभी सहसा दूर से आती हुई किसी कार की रोशनी दिखाई दी और सारे बदमाश चल पड़े. कासम ने अंजना का हाथ पकड़ रखा था और उसे खींच रहा था.

थोड़ी दूर एक पुरानी जीप खड़ी हुई थी. अंजना को उसमें ढकेल दिया गया. सभी गुंडे भी उसमें सवार हो गये. जीप ज़ोर से दौड़ पड़ी. थोड़ी ही देर बाद वह सड़क से नीचे उतर कर ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर भागने लगी. फिर, एक पुराने खंडहर जैसे मकान के सामने रुक गयी. यह मकान वीरान जगह में था. आसपास, दूर-दूर तक किसी प्रकार की भी आबादी नहीं थी.

उस मकान में पहुंच कर अंजना के साथ वही हुआ जो उसने सोचा था. सभी ने उसके साथ क्रूरता के साथ खेला. अंततः पूरी तरह बेहोश हो गयी वह !

होश आने पर उसने अपने को अस्पताल के वार्ड जैसे एक कमरे में पाया. वह एक साफ़-सुथरे बिस्तर पर लेटी हुई थी और उसके एक हाथ में ग्लूकोज-सलाइन की सुई लगी हुई थी.

पहले तो वह समझ ही नहीं पायी कि वह यहां कब, क्यों, कैसे आयी और यह कौन सी जगह है, फिर उसे सब कुछ याद आ गया और उसकी आंखों से आंसू बहने लगे. रोने लगी वह.

तभी वहां प्रौढ़ आयु की, सफ़ेद साड़ी-ब्लाउज पहने हुए एक स्त्री आ गयी. घने लेकिन सफ़ेद बालों वाली उस स्त्री के चेहरे पर सात्विकता, ममता झलक रही थी और आंखों में आत्मविश्वास स्पष्ट दिखाई दे रहा था. अंजना के पास आ कर उसने पूछा- "अब तबियत कैसी है बेटी ?"

लेकिन इस प्रश्न का उत्तर देने के बदले अंजना ने पूछा, "मैं...मैं... यहां कैसे आ गयी ? ...आप कौन हैं ? यह कौन सी जगह है ?"

"एक साथ इतने सारे प्रश्न ?" वह प्रौढ़ा मुस्कुरा उठी, "बेटी, यह 'आधार' नाम का अनाथ स्त्रियों का आश्रम है. मैं इस आश्रम की संचालिका हूं. मेरा नाम है ललिता. लेकिन सभी मुझे दीदी कहती हैं. कल एक गांव से कार द्वारा लौट रही थी. तब सड़क के एक किनारे तुम बेहोश पड़ी हुई मिलीं और मैं तुम्हें यहां उठा लायी. इस समय तुम आश्रम के अस्पताल में हो. ...अब बताओ, कौन हो तुम ? क्या है नाम ? किस संकट में फस गयी थीं तुम ?"

अंजना को अपनी दुर्दशा पर पुनः रुलाई आ गयी. वह सिसक-सिसक कर रोने लगी.

ललिता जी क्षणभर चुप रहीं. फिर बोलीं, "रो लो. ख़ूब रो लो. रोने से जी हलका हो जाता है. लेकिन बेटी, यह जान लो कि हमारी संस्था में आ गयी हो तो अब तुम्हें डरने-घबड़ाने या रोने की ज़रूरत नहीं है. यहां तुम पर किसी भी प्रकार का संकट नहीं आयेगा. तुम यहां पूरी तरह सुरक्षित हो." इतना कहकर और उसके सिर पर आश्वासक हाथ फिराकर वे कमरे से बाहर चली गयीं.

❑

तब से अंजना 'आधार' में ही रह रही है. उसने ललिता जी को अपने नाम के अतिरिक्त अपना और कोई परिचय नहीं दिया. केवल यह बताया कि कुछ गुंडों ने उस पर बलात्कार किया था और वह बेहोश हो गयी थी. इसके बाद उसे इसी आश्रम में होश आया था. अनुभवी ललिता जी ने भी उससे और अधिक प्रश्न नहीं पूछे थे.

पहले कुछ दिनों तक तो अंजना 'आधार' की अन्य स्त्रियों की तरह ही रही; फिर धीरे-धीरे यहां के कामों में उसने हाथ बटाना शुरू कर दिया. वह सुशिक्षित थी, ऑफिस का काम जानती थी. थोड़े ही दिनों में वह 'आधार' संस्था की महत्त्वपूर्ण सदस्य बन गयी. एकाउंट बुक्स, विभिन्न फाईलें, पत्र-व्यवहार ये सभी काम उसे सौंपे गये. संस्था की अन्य गतिविधियों में भी वह सम्मिलित होने लगी. ललिता जी की बहुत सारी ज़िम्मेदारियां उसने संभाल लीं. अपने काम का बोझ हलका करने वाली इस युवती को ललिता जी बहुत चाहने लगीं. उसके लिए छोटा-सा ही, लेकिन साफ़ सुथरा, बाथरूम - अटैच्ड कमरा दिलवा दिया. 'आधार' की सभी छोटी-बड़ी योजनाओं में अब अंजना की सलाह लेना जैसे अनिवार्य बन गया.

स्वयं अंजना को भी कामों में व्यस्त रहने में सुकून मिलने लगा. इस व्यस्तता में वह अपना कटु अतीत कुछ हद तक तो भूल ही जाती थी. जब-जब उसे अपने प्रिय पति और उनके साथ बिताये हुए सुखी जीवन की स्मृतियां सताने लगती थीं, तब-तब वह 'आधार' के कामों में अपने आप को मानो खो देती थी. ललिता जी को या 'आधार' की किसी भी स्त्री को उसने अपने नाम के अलावा न तो अपना पूरा परिचय बताया था, न ख़ुद पर बीता हुआ हादसा ही पूरी तरह बताया था. वह जानती थी कि अगर मैंने अपना पूरा पता ललिता जी को बता दिया तो वे मेरे पति से संपर्क स्थापित कर मेरा घर पुनः बसाने का प्रयास करेंगी. और उसे यह तनिक भी अच्छा नहीं लगेगा. कौनसा पुरुष कलंकित पत्नी को पुनः साथ रखना चाहेगा ? और मान लो, रख भी लिया, तो वह पहले की तरह अपनी पत्नी से प्रेम कर पायेगा ? वे तो मुझे हिमालय से निकली हुई गंगा की तरह पवित्र मानते थे; अब इस प्रदूषित गंगा को क्या वे पहले की तरह अपनत्व दे पायेंगे ? ...नहीं, कदापि नहीं ! ललिता जी ने भी उसके इस अतीत को कुरेदने का आग्रह नहीं किया. अपने दीर्घ अनुभव के कारण वे

यहां आनेवाली स्त्रियों की मानसिकता और विवशता से अच्छी तरह परिचित हो गयी थीं.

अंजना जब यहां आयी थी तब 'आधार' के प्रांगण में एक प्रेक्षागृह का निर्माण हो रहा था, जिसमें संस्था की स्त्रियों के लिए सत्संग, प्रवचन, विविध सांस्कृतिक कार्यक्रम करने की योजना थी. प्रेक्षागृह में लगभग तीन सौ व्यक्तियों के बैठने की जगह थी. एक ओर मंच भी बना हुआ था. इस भवन का कार्य लगभग पूर्ण हो चुका था. अब रंग वग़ैरह लगने का काम चल रहा था. तो, एक दिन ललिता जी ने कार्यकारिणी समिति की बैठक आयोजित की. उस बैठक में स्वभावतः ही अंजना को भी बुलाया गया. वह भी अब कार्यकारिणी समिति की प्रमुख सदस्या बन गयी थी.

बैठक में विषय उपस्थित किया गया कि, प्रेक्षागृह के उद्घाटन के लिए किसे बुलाया जाय. उद्घाटन के लिए कई नाम सामने आये और अंततः सर्व-सम्मति से शहर के नामी रईस गिरिधारीलाल का नाम चुना गया. यह नाम सुनते ही अंजना चौंक पड़ी. उसने चाहा कि, पुकार कर कह दे... नहीं-नहीं, गिरिधारीलाल जी नहीं ... लेकिन वह चुप रह गयी. सोचा, यदि इस नाम को नकारने का कारण उससे पूछा जायेगा तो वह क्या बतायेगी ? ....वह बस, चुप रह गयी.

आज उसी उद्घाटन की तैयारियां हो रही हैं.....उसने मन-ही-मन कहा, नहीं वह इस कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं होगी. वह नीचे उतरेगी ही नहीं. अपने कमरे से बाहर निकलेगी ही नहीं. वह अपने बिस्तर पर चुपचाप लेट गयी.

थोड़ी देर बाद दरवाज़े पर दस्तक हुई. उसने उठकर दरवाज़ा खोला. सामने एक औरत खड़ी थी, बोली, "अंजना जी, आप अभी तक नीचे नहीं आयी ? दीदी याद कर रही हैं आपको."

अंजना ने कहा, "आज तबीयत ठीक नहीं है मेरी. सिर में बहुत दर्द है. मैं आज नीचे नहीं आ पाऊंगी. मेरी ओर से माफ़ी मांग लेना दीदी से."

औरत पल भर चुपचाप खड़ी रही, फिर चली गयी और थोड़ी देर बाद स्वयं ललिता जी उस कमरे में आ गयीं. बोलीं," क्या बात है अंजना ? यह अचानक तबीयत कैसे खराब हो गयी ? कब से हो रहा है सिर दर्द ? बुख़ार तो नहीं है ?" उन्होंने उसका माथा हथेली से टटोला.

अंजना ने कहा, "जी, बुख़ार तो नहीं है; लेकिन सर बहुत दर्द कर रहा है... और...थकावट भी काफ़ी महसूस हो रही है."

"ठीक है. " ललिताजी ने कहा, "मैं अभी दवा की टैबलेट और चाय भिजवाती हूं. उसे ले लेना और थोड़ा आराम कर लेना. ...लेकिन कार्यक्रम में तुम्हें ज़रूर आना है......भले ही कोई काम न करना; लेकिन श्रोताओं में आकर बैठ जाना." और वे नीचे चली गयीं.

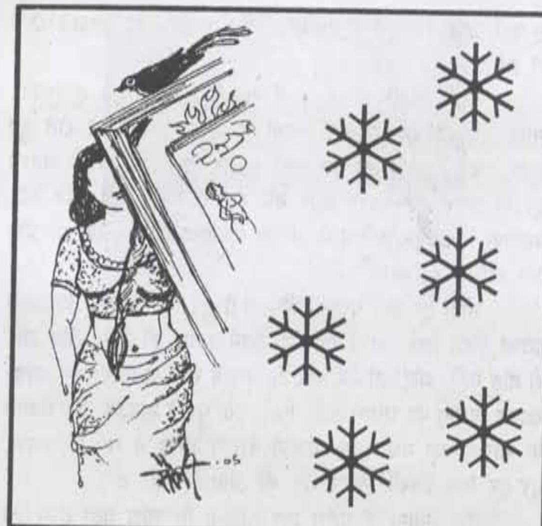

अंजना दुविधा में फंस गयी. न तो वह ललिता जी को नाराज़ करना न ही अपने पति के सामने जाना चाहती है ! ...कैसे जाये उनके सामने अपना भ्रष्ट शरीर ले कर ? हे भगवान ! क्या करूं ? ....क्या करूं ?...

और अचानक इस दुविधा से मुक्ति का उपाय उसे सूझ पड़ा. वह नीचे ज़रूर जायेगी; लेकिन आश्रम की अन्य स्त्रियों की भीड़ में छिपकर बैठ जायेगी. इस तरह अपने पति की निगाहों से बच जायेगी. हां, नीचे जाकर ललिता जी से वह ज़रूर मिल लेगी... ...यही किया अंजना ने. स्नान आदि से निपटकर उसने बिलकुल मामूली साड़ी पहनी और नीचे पहुंची. प्रेक्षागृह के प्रवेश द्वार पर लाल रंग का फीता बंधा था. कुछ कार्यकारिणी की स्त्रियों के साथ ललिता जी दरवाज़े के पास खड़ी हुई उन्हें कुछ निर्देश दे रही थीं. अंजना उनसे मिली. बोली, "दीदी, मैं आ गयी."

ललिता जी ने पूछा - "तबीयत कैसी है ?"

"पहले से कुछ ठीक है." कह कर अंजना उन स्त्रियों में जा मिली जो दूर खड़ी हुई उद्घाटक महोदय की प्रतीक्षा कर रही थीं.

थोड़ी देर बाद एक कार फाटक से भीतर आयी. अंजना ने देखा, यह वही कार है, जिसमें वह अपने पति के साथ घूमा करती थी. उसके मुंह से एक लंबी सांस निकल पड़ी.

ललिता जी जल्दी-जल्दी चलती हुई कार के पास पहुंची और कार से बाहर निकलते हुए गिरिधारी जी का उन्होंने स्वागत किया. दोनों ने एक-दूसरे को नमस्कार किया फिर ललिता जी उन्हें प्रेक्षागृह के पास ले आयीं. एक स्त्री ने उन्हें नयी कैंची दी और उनसे फीता काटने का अनुरोध किया.

गिरिधारी जी ने फीता काटा. तालियों की गड़गड़ाहट गूंज उठी. कैमरे के फ्लैश चमचमा उठे.

आगे-आगे गिरिधारी जी, ललिता जी, उनके पीछे संस्था के कुछ दान-दाता प्रतिष्ठित व्यक्ति और उनके पीछे-पीछे सभी स्त्रियां प्रेक्षागृह में पहुंची. अंजना भी उन्हीं स्त्रियों में अपने को छिपाती हुई भीतर पहुंची.

हॉल काफी बड़ा था तीन-चार सौ व्यक्ति वहां आराम से बैठ सकते थे. पक्की टाइल्स वाले फ़र्श पर दरियां बिछा दी गयी थीं. छत से टंगे हुए बहुत-से पंखे घूम रहे थे. बड़ी-बड़ी खिड़कियों से बाहर का उजाला भीतर आ रहा था.

ललिता जी ने अपने आदरणीय मेहमानों को स्टेज पर ले जाकर कुर्सियों पर बैठाया, पुष्प गुच्छों, पुष्प हारों से उनका स्वागत किया, माइक के सामने खड़ी होकर उनका परिचय दिया, उद्घाटन करने के लिए गिरिधारी को धन्यवाद दिया, फिर उनसे संस्था के लिए कुछ बोलने की प्रार्थना की.

गिरिधारी जी उठे, माइक के सामने जा खड़े हुए. एक बार सभी उपस्थित लोगों की ओर निगाह फिरायी; फिर बड़ी स्पष्ट किंतु विनम्र आवाज़ में वे बोलने लगे.

"मंच पर विराजमान आधार संस्था के आदरणीय संरक्षक गण, आधार संस्था की सर्वेसर्वा संचालिका आदरणीय ललिता जी, कार्यकारिणी की सदस्या तथा सभी कर्मचारी वृंद और सामने बैठी हुई सभी महिलाएं !

सबसे पहले मैं आधार संस्था से संबंधित लोगों का तथा विशेष रूप से श्रीमती ललिता जी का अत्यंत आभारी हूं - इसलिए कि इसे प्रेक्षागृह के उद्घाटन के लिए आपने मुझे आमंत्रित किया. ....इस संस्था के पुनीत कार्यों के विषय में बहुत कुछ सुना रखा था, पढ़ा भी था. विशेष रूप से श्रीमती ललिता जी जिस निःस्वार्थ भाव से , जिस समर्पित भावना से इस संस्था का संचालन कर रही हैं, जिस तरह निराधार स्त्रियों को आधार दे रही हैं, उससे मैं बहुत प्रभावित था. यहां आकर संस्था का कार्य देखने और ललिता जी की सराहना करने की इच्छा मेरे मन में पहले से ही थी. इस इच्छा की पूर्ति का संयोग आज मिला. मैं बहुत प्रसन्न हूं ! ....मैं इस संस्था को पांच लाख की छोटी-सी भेंट देना चाहता हूं. ...ललिता जी, कृपया इसे स्वीकार करें."

इतना बोलकर उन्होंने अपनी जेब से एक चेक निकाल कर ललिता जी को दे दिया.

पूरा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा.

गिरिधारी जी कुछ क्षणों के लिए रुक गये, फिर बोले, "मुझे भाषण देने की कला नहीं आती. आप लोगों का अधिक समय लेना नहीं चाहता. लेकिन एक बात ज़रूर कहना चाहूंगा. इस आधार-जैसी संस्थाओं में जो स्त्रियां रहने के लिए विवश हो जाती हैं, उन्हें समाज प्रायः उपेक्षा से, नीची दृष्टि से देखता है. मेरे विचार से यह ग़लत है. अपवाद-स्वरूप कुछ इनी-गिनी स्त्रियों को छोड़कर प्रायः सभी अनाथ स्त्रियां निर्दोष होती हैं, पुरुषों द्वारा पीड़ित होती हैं. यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि, हमारी संस्कृति प्राचीन काल से ही पुरुष प्रधान रही है. प्रारंभ से आज तक पुरुष स्वेच्छाचार करने के लिए मुक्त रहा है और स्त्री पुरुष द्वारा पीड़ित, अपमानित, त्रस्त होने के लिए विवश रही है. इसे पांच पतियों की सेवा करने के लिए, पशु की तरह जुएं के दांव पर लगने के लिए, भरी सभा में निर्वस्त्र होने के लिए, अग्नि-परीक्षा में अपना पातिव्रत्य सिद्ध कर देने के बाद भी मिथ्या आरोप के कारण कलंकित, वन में निष्कासित होने के लिए, छल से अनजाने में ही शीलभ्रष्ट हो जाने पर पत्थर की शिला बनने के लिए बाध्य होना पड़ा है !.... प्राचीन काल की बात जाने दीजिए; आज, इस आधुनिक युग में भी पुरुषों के अत्याचारों से स्त्री मुक्त कहां हुई है ? आज भी, निरपराध होते हुए भी उसे प्रताड़ित किया जाता है, ज़िंदा जला दिया जाता है !..."

गिरिधारी क्षण भर के लिए रुके; फिर बोले, "कोई भी स्त्री अपनी मर्जी से अपना शील खोना नहीं चाहती. वेश्या भी परिस्थिति, पुरुष, समाज से पीड़ित होने के बाद ही, मजबूर हो कर वेश्या बनती है. ...और यह कितना विचित्र विरोधाभास है कि, स्त्री अपने पति को जीवन-सर्वस्व मानती है. कभी-कभी तो अपने पति के प्राण बचाने के लिए अपना शील भी दांव पर लगा देती है !..."

इतना कहकर गिरिधारी सहसा रुक गये. शब्द उनके कंठ में अटक गये. गला भर आया. आंखें छलछला आयीं. उन्होंने दो घूंट पानी पिया, रूमाल से अपनी आंखें पोछीं. फिर बोले, "स्त्री गंगा की तरह निर्मल होती है, पावन होती है. उसे भ्रष्ट, प्रदुषित करता है पुरुष ! ...लेकिन प्रदूषित गंगा को भी सागर, उसके प्रदूषण सहित, स्वीकार कर लेता है - इसलिए कि वह जानता है कि गंगा प्रदूषित नहीं होती; उसे प्रदूषित किया जाता है !..."

गिरिधारी पुनः रुक गये. उनकी आंखों से आंसू बहने लगे. रूमाल से आंसू पोंछकर उसी अवरूद्ध कंठ से वे बोले, "मेरी भी एक गंगा थी. पावन, निर्मल ! मेरे प्राण बचाने के लिए उसने अपने शील का... और ...और कदाचित अपने प्राणों का भी बलिदान कर दिया ! ...पता नहीं, वह कहां अदृश्य हो गयी !... मैंने उसे बहुत ढूंढ़ा, लेकिन वह नहीं मिली ! मैं अपनी गंगा को पाने के लिए छटपटा रहा हूं ! तड़प रहा हूं."

अब अंजना से रहा नहीं गया. वह उठी और औरतों के बीच किसी तरह रास्ता बनाती हुई दौड़ पड़ी.

❑

नदी अब उछाल पर थी. अब उसे कोई बांध रोक नहीं सकता था.

शिव-पार्वती-निवास, मार्केट रोड,
पोस्ट बॉक्स नं. ८, बोईसर, ठाणे ४०१५०१.

आमने / सामने

"मैंने अपने कर्म पर उम्र हावी नहीं होने दी"

✍ भोला पंडित 'प्रणयी'

(बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठें खोलना चाहता है. लेखक और पाठक के बीच की दीवार ख़त्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने/सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुन्नीसिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रज़ाक और मदन मोहन 'उपेंद्र' से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है भोला पंडित 'प्रणयी' की आत्मरचना.)

'कथाबिंब' के आमने-सामने के स्तंभ में 'आत्मकथ्य' लेखन का आमंत्रण सुखद तो लगा, लेकिन व्यक्तिगत संवेगों और भावनात्मक घात-प्रतिघातों से परे होकर अपनी अभिव्यक्ति परोसने का काम दुर्वह अवश्य लग रहा है. अब अपनी आत्मघाती जड़ता से बचकर पाठकों को आस्था का सूत्र कहां तक पकड़ा पाऊंगा. इसके लिए तो मुझे परत-दर-परत खुलना ही पड़ेगा.

मेरा जन्म जिस गांव में हुआ वहां पहले अंग्रेजों के नील महने की कोठी थी. जहां दुलारी दाय नदी के दक्षिणी कछार पर कुछ संभ्रांत घरों के अलावा हरिजनों, पिछड़ी जातियों तथा आदिवासियों की संख्या अधिक थी. रोज़ी-रोटी की खोज में हमारे परदादा यहां आकर बस गये थे. मेरे पिताजी माटी-धन कलाकार थे. मिट्टी के छोटे-बड़े वर्तन बनाकर परिवार चलाते थे. इलाक़े में बर्तनों की ख़ूब बिक्री होती थी. अनाजों से घर भरा रहता था. लेकिन वहां बर्तन बनाने वाली मिट्टी ज़मीन के दस मीटर नीचे थी जिसे गढ़े खोदकर निकालने का काम बड़ा जोख़िम भरा होता था. गढ़े की दीवार से मिट्टी का धंसना शुरू हो जाये तो मौत सुनिश्चित थी. ऐसी दुर्घटना में कई कुम्हार मर चुके थे. मेरे चाचा भी इसका शिकार हो चुके थे. उन दिनों जब मैं बालक था, मिट्टी कोड़ते समय अपने पिताजी को कुएं में झांककर देखा था. मेरे माता-पिता द्वारा बनाये गये बर्तनों की कलाकारिता आकर्षक और प्रशंसनीय होती थी. मैं अपने माता-पिता की सबसे छोटी संतान था इसलिए उनसे भरपूर प्यार मिलता था. माताजी अनपढ़ थीं. वह दुनियादारी के नौ-छह नहीं जानती थीं. लेकिन पिताजी साक्षर थे. वह प्रतिदिन घरेलू कार्यों से निबटकर संध्या में ढोलक-मृदंग के साथ ब्रह्मानंदी भजन-कीर्तन अवश्य गाते थे. उनका गायन सुनने भजनप्रेमी स्वतः पहुंच जाते थे. उन लोगों के बीच खैनी और हुक्का-चिलम चलता था. इसीलिए अल्प वय से ही मेरे अंतर में संगीत कला का बीजारोपण हो गया था.

उन्हीं दिनों हमारे गांव में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के सिलसिले में साहित्यकार रामदेनी तिवारी 'द्विजदेनी' जी पधारे थे. उन्हीं के द्वारा संभ्रांत लोगों के आग्रह पर एक नाट्य मंडली स्थापित हुई थी जो कालांतर में एक समृद्ध नाट्य मंडली बन गयी. मेरे पिताजी उस मंडली में तबला वादक थे. लोग उन्हें उस्ताद कहते थे. जब मैं छह-सात की अवस्था में था, पिताजी ने मुझे भी नाटक में नाचने-गाने के लिए प्रोत्साहित किया. लेकिन वह मेरी पढ़ाई-लिखाई पर अधिक ध्यान देते थे. गांव के गुरूजी को ख़ुश रखने के लिए वह कुछ-न-कुछ उपहार समय पर दे दिया करते थे. पढ़ाई-लिखाई करते देख गांव के संभ्रांत लोगों में जलन होती थी. जब वे व्यंग्य से पूछते - उस्ताद, भोला को कहां तक पढ़ाइयेगा ? तो उनका जवाब होता - जब तक वह अंग्रेजी दवाओं का नाम पढ़ना सीख न ले. लेकिन वह मुझे बार-बार कहते - तुम्हें भी रामदेवी तिवारी 'द्विजदेनी' (पूर्णियां जिला के स्वतंत्रता - सेनानी और चर्चित साहित्यकार) की तरह बनना है. देखो लोग उन्हें कितना चाहते हैं. वह नाटक भी लिखते हैं. और नेता बनकर आज़ादी की लड़ाई भी लड़ते हैं.

गांव की लोअर प्राइमरी पास करने के बाद चार किलो मीटर की दूरी पर अपर प्राइमरी स्कूल था. वहां मेरा नामांकन हुआ. रोज़ पैदल घोबिनियां के सघन जंगल के पार्श्व से गुज़रकर आना-जाना होता. बीच रास्ते में एक जलाशय भी पार करने का खतरा था. कभी जंगल के हिंसक पशुओं को देखने का दुर्योग भी हो जाता था. इसीलिए पिताजी अन्य घरेलू कार्यों को छोड़ मुझे समय पर स्कूल पहुंचाने और लाने का काम अवश्य करते. भारतीय स्वतंत्रता का पहला जश्न उसी विद्यालय में तिरंगा फहराकर हमने मनाया था.

६ जनवरी १९३६;

१९६० से राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दर्ज़नों आलेख, कहानियां तथा संस्मरणादि प्रकाशित. शिक्षा-सेवा से निवृत्त होकर स्वतंत्र लेखन. मासिक पत्रिका 'संवदिया' का प्रकाशन-संपादन.

जब मैं पांचवी कक्षा में ग्यारह-बारह वर्ष का था, पिताजी ने मेरा बाल-विवाह करा दिया. उस समय मेरी धर्मपत्नी की अवस्था चार-पांच वर्ष की ही थी. उन दिनों बाल-विवाह का ख़ूब प्रचलन था. पत्नी ख़ूबसूरत थी और गुड़िया-सी लगती थी. ससुराल में मेरे बारे में चर्चा थी कि लड़का पढ़-लिख रहा है. मेरे श्वसुर ने बाज़ी मार ली है. लड़का गाता-बजाता भी है. उस समय तक पिताजी मुझे सूर, तुलसी, मीरा, कबीर, ब्रह्मानंद के अलावा विद्यापति के कुछ भजन सिखा चुके थे. फिर तो मेरे पांव में बंधे घुंघरुओं के बोल कभी ताल से बेताल नहीं हुए. अभी छह महीने भी नहीं बीते कि पिता का साया छिन गया. परिवार में अचानक शोक छा गया. उन दिनों मेरे एकमात्र अग्रज अपने सास-श्वसुर के बहकावे में आकर ससुराल में रहने लगे थे. विधवा मां के लिए यह दुनिया पहाड़-सी लगने लगी थी.

हां, मुझे यह अच्छी तरह स्मरण है कि पिता जी के मरने पर गांव के संभ्रांत लोगों में से एक ने भी अर्थी में कंधा नहीं लगाया था, क्योंकि हम अत्यंत पिछड़ी जाति के थे. पड़ोस के गांव से स्वजाति को बुलवाकर दूसरे दिन अर्थी उठी थी. उसी दिन चाचा जी ने इस घटना को गंभीरता से लिया था और तय किया कि हमें अब इस गांव में नहीं रहना है. उसी दिन मेरे भी बाल मन ने संकल्प लिया था कि मैं ख़ूब मन लगाकर पढ़-लिखकर इन संभ्रांत कहानेवाले शोषक वर्ग के लोगों को कुछ बनकर दिखाऊं और पिताजी के सपनों को पूरा करूं.

लेकिन, अपर प्राइमरी पास कर लेने के बाद मेरे समक्ष अब भी अंधेरा था. पिताजी के श्राद्ध-कर्म में मेरे एक मात्र बहन-बहनोई आये थे. उनके गांव में मिडल स्कूल था. उन्होंने मां से अपने साथ ले जाने की अनुमति मांगी और स्कूल में पढ़ाने-लिखाने का आश्वासन भी दिया. इस बात से सबों को प्रसन्नता हुई. अब मैं उन लोगों के साथ ही गांव से सुदूर बहनोई के गांव पहुंचा. विद्यालय में मेरा नामांकन हुआ. विद्यालय के विशाल प्रांगण में छात्रावास भी चल रहा था. छात्रों की संख्या अधिक थी और अहाता घिरा हुआ था. गांव के मध्य एक छोटा-सा बाज़ार भी था. नेपाल की सीमा सटे रहने के कारण बाज़ार अच्छा चलता था. गांव की आबादी भी सघन थी. लोगों में आपसी सामंजस्य था. वहां मेरा मन ख़ूब लगा. मैं नियमित विद्यालय में पढ़ने लगा और कुछ ही दिनों में शिक्षक और छात्रों के बीच घुलमिल गया. लेकिन मेरे बहन-बहनोई भी ग़रीब ही थे इसलिए रूखा-सूखा खाकर ही संतोष कर लेता था. मेरे पड़ोस के एक संपन्न परिवार की छात्रा गंगा भी मेरे साथ विद्यालय में पढ़ने जाती थी. उसका मेरे प्रति आकर्षण था. और वह मेरी छोटी-मोटी पठन-पाठन की सामग्रियों को भी पूरा करने लगी. अब वह मुझे अपने घर भी समय-समय पर खाने-पीने के लिए बुलाने लगी. इससे मेरा भी उसके प्रति आकर्षण बढ़ा. यह बात कुछ लोगों को अच्छी नहीं लगी और हम दोनों की संगति पर सामाजिक प्रश्न खड़ा करने का प्रयास किया. मेरे बहन-बहनोई के कान भी भरे गये. ये हम दोनों के निर्मल स्नेह पर अपवित्र छींटे थे.

गांव में एक संगठित थियेट्रिकल नौटंकी कंपनी चल रही थी. जिसका सुनाम दूर-दूर तक था और सट्टे पर मेला-बाज़ार में भी जाकर भी अपना प्रदर्शन करती थी. मेरे नाच-गाने से प्रभावित होकर कंपनी के व्यवस्थापक ने उसमें मुझे भी सम्मिलित कर लिया. अब मैंने छुट्टी के दिनों में आर्थिक लाभ के लिए उसमें दिलचस्पी ली. नगाड़े और खुर्दक के बोल पर प्रचलित फिल्मी गीतों का हाव-भाव के साथ मैं इतना अच्छा प्रदर्शन करने लगा कि श्रोता आत्मविभोर होने लगे और मंच पर पैसे बरसने लगे. मैं अब अपने क्षेत्र के लोकप्रिय 'डांसर' के रूप में प्रचलित हो गया. किंतु मेरा मुख्य उद्देश्य तो पढ़ना था. मेरे बहनोई को भी मेरा इस तरह चर्चित होना अच्छा नहीं लगता था, इसलिए मुझसे पढ़ाई का नाग़ा करवाकर घर में कठोर काम लेने लगे और जब मैं आपत्ति करता तो मुझे घर से निकल जाने की धमकी भी देने लगते. वह अपढ़ मूर्ख थे. लोगों के बहकावे में सहज ही आ जाते थे. एक दिन मैंने अपनी सहपाठिनी गंगा से दुखड़ा सुनाया, तो उसने स्कूल के प्रधानाध्यापक से मिलने का सुझाव दिया जिससे छात्रावास में जगह मिल सके. दूसरे ही दिन मैं बहनोई से तंग आकर एकांत में प्रधानाध्यापक से मिला और रो-रोकर अपनी पूरी रामकहानी सुना दी. प्रधानाध्यापक मेरी पढ़ाई-लिखाई के अलावा मेरे नाच-गाने से विशेष प्रभावित थे. वह दयालु थे इसलिए उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और निःशुल्क छात्रावास में रहने की अनुमति दे दी. साथ ही उन्होंने मुझे यह भी आदेश दिया कि मेस के बर्तन इस छूट के बदले मुझे साफ़ करके देने होंगे और रात्रि विश्राम के समय मुझे प्रतिदिन नाचारी (महादेवी) भी सुनानी होगी. यह

काम मेरे लिए आसान था. मैं कर्मठ था. मैंने गुरू के पांव पकड़ लिये. घनी शाम में मैं दौड़े-दौड़े बहन के घर में घुसा और कपड़े की झोली में अपने पठन-पाठन की सारी सामग्री समेट अपनी सहपाठिनी को छात्रावास जाने की सूचना दी. उसने अपनी प्रसन्नता व्यक्त की और आश्वस्त किया कि वह अपनी ओर से दही, दूध, और जलपान की व्यवस्था करती रहेगी. मेरा प्रथम उपन्यास 'वह इंसान था' में इस बिंब को देखा जा सकता है.

अब मेरे समक्ष किसी तरह की कठिनाइयां नहीं थीं. कुशल शिक्षकों के मार्गदर्शन में सभी विषयों की पूरी तैयारी कर ली और १९४९ में मिडल स्कूल की शिक्षा अव्वल नंबरों से पूरी कर ली. इसी बीच मुझे ज्ञात हो गया था कि मेरा परिवार कवैया गांव छोड़कर गीतवास गांव में बस गया है जहां स्वजातियों की संख्या अधिक है. जब मैं गांव लौटा, तो एक छोटी सी झोपड़ी में मां से लिपटकर उनकी दयनीय दशा पर ख़ूब रोया. मेरे शुभेच्छुओं ने मुझे सांत्वना दी. उस गांव, टोले में मिडल पास अब तक किसी ने नहीं किया था इसीलिए सभी मुझे अच्छी निग़ाह से देखते थे, लेकिन मेरी ग़रीबी पर तरस भी खाते थे. मैंने उन लोगों के समक्ष आगे पढ़ने की जब अपनी बात रखी, तो सबों ने एक स्वर से मदद करने का आश्वासन दिया. उन दिनों कांग्रेसी नेता के रूप में गणेश लाल वर्मा (विधायक) का बड़ा नाम था. ग्रामीणों के सुझाव पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने अपने स्तर से पत्र लिखकर रानीगंज लालजी उच्च विद्यालय में नामांकन करवा दिया. लेकिन इसी से मेरी समस्याएं समाप्त नहीं हुईं. उनमें गांव से रानीगंज की नौ किलोमीटर की दूरी प्रमुख थी.

१९५० के जनवरी माह में सरस्वती पूजा के अवसर पर विद्यालय में होने वाले नाटक का 'रिहर्सल' चल रहा था. वहां मेरे एक पूर्व परिचित छात्र मित्र से जब भेंट हुई, तो उसने नाट्य समिति के समक्ष जाकर मेरे नृत्य-संगीत कला की विशेषताओं की चर्चा कर दी. सभी मुझसे आकर्षित हुए और मेरा चयन कर लिया गया. रिहर्सल के लिए मुझे उन लोगों ने छात्रावास में रोक भी लिया. और जब पूजा के दिन मैंने पूरी तैयारी के साथ रंगमंच पर नृत्य-संगीत प्रस्तुत किया, तो दर्शकों की ओर से ज़ोरदार तालियों की गड़गड़ाहट से स्वागत हुआ. इसी बीच रंगमंच पर वर्मा जी भी उपस्थित हुए और मेरा परिचय एक ग़रीब छात्र के रूप में देकर दर्शकों से आर्थिक सहायता की अपेक्षा की. उनकी अपील पर मेरी सारी समस्याओं का हल उसी मंच पर हो गया. स्कूल के सचिव ने छात्रावास में निःशुल्क रहने की घोषणा की, तो प्रधानात्मक ने स्कूल फी माफ़ करने का एलान किया. थाना के दारोगाजी ने पुस्तक सहायता के अलावा दस रुपये प्रतिमाह देने का वचन दिया. उस रंगमंच पर अन्य दर्शकों की ओर से भी कुल दो सौ नक़द रुपये प्रोत्साहन स्वरूप मिले. मेरे भाग्य ने पलटा खाया. अब मैं निश्चिंत होकर अपने अध्ययन में शिक्षकों की सहायता से परिश्रम करने लगा. मेरे वर्ग शिक्षक पं. अमोघ नारायण झा एक ख्याति प्राप्त कवि थे. उन्होंने मुझ में काव्य प्रतिभा देखी और मेरी तुकबंदियों पर अच्छी टिप्पणी देकर मुझे प्रोत्साहित किया विद्यालय-पुस्तकालय में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएं आती थीं जिन्हें देखने का मुझे अवसर मिलता रहता. पुस्तकालय समृद्ध था जिसमें पंत, दिनकर, महादेवी, मैथिलीशरण गुप्त आदि दर्जनों कवि-साहित्यकारों की पुस्तकें उपलब्ध थीं, जिन्हें उलट-पुलटकर देखने का अवसर मुझे वहीं प्रारंभ में मिला. उन्हीं दिनों जब मैं दसवें वर्ग का छात्र था तो गुरूदेव अमोघ जी ने फणीश्वरनाथ रेणु का प्रकाशित रिपोर्ताज 'कोसी डाईन' पढ़वाया था. मैं ख़ूब मेहनती अनुशासित छात्र था. उन्हीं दिनों आदर्श गांव सिमरबनी में सार्वजनिक पुस्तकालय के उद्घाटन के अवसर पर कवि सम्मेलन और 'द्विजदेनी' रचित नाटक 'विषय-चंद्रहास' का मंचन हो रहा था जिसमें किसी नारी पात्र के अभिनय के लिए मुझे विद्यालय से बुलाया गया था. उन दिनों अभिनय और नृत्य कला में मेरी ख़ूब शोहरत हो चुकी थी और मैं जहां कहीं भी जाता वहां से मुझे मोटी रक़म इसलिए भी मिलती कि मैं प्रतिभाशाली छात्र था. कहीं-कहीं मुझे नये वस्त्र भी बनवाकर दे दिये जाते. मैंने पहली बार गुरूदेव अमोघ जी के साथ कुर्सेला में आयोजित प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन में भाग लिया था. वहां डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु, रूद्र, कैरव, प्रभृति दर्जनों साहित्यकारों के दर्शन हुए थे

१९५४ में मेरी (मैट्रिक की फाइनल) बोर्ड परीक्षा पूर्णियां जिले स्कूल में थी. वहां उत्प्रेषित छात्रों को दस दिन रहना था एक टीम के साथ. मेरे पास अपेक्षित रक़म का अभाव था. संयोग से वहीं भट्ट बाज़ार के दुर्गा स्थान में नाटक का आयोजन था. मेरी लॉटरी खुली. जहां दो रातें उसमें भाग लेकर आवश्यकता से अधिक पारिश्रमिक मिला. रात में दो बजे तक नाटक में भाग लेता और दिन में परीक्षा में सम्मिलित होता, फिर भी दो महीने के बाद अख़बार में जब मेरा परीक्षाफल प्रकाशित हुआ तो मेरे शुभेच्छुओं ने मुझे बधाइयां दीं क्योंकि उन दिनों मैट्रिक पास करना चर्चा का विषय समझा जाता था. अब मैं गांव का पहला मैट्रिक पास व्यक्ति हुआ, इससे हमारे गांव वाले गौरवान्वित थे.

अब मुझ में महाविद्यालय की पढ़ाई का साहस नहीं था. इसीलिए लगभग पांच महीने घर पर रहकर मैंने अपनी मां के जातीय पेशे में हाथ बंटाना शुरू किया. मां को मेरा इस तरह का परिश्रम पसंद नहीं था. मज़दूरी पर कृषि-कार्य करने, पाट से सन छुड़ाने जैसे कठिन कार्यों में मुझे लगा देखकर मां दयार्द्र हो जातीं, लेकिन मैं अपने परिश्रम से संतुष्ट था क्योंकि दोनों शाम की रोटियां जुटाने में मुझे कहीं हाथ फैलाना नहीं पड़ता था.

उन्हीं दिनों मेरे एक साथी ने मुझ से भेंट की. पूछने पर उसने बताया कि वह इन दिनों शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय टीकापट्टी में प्रशिक्षण पा रहा है. वहां प्रशिक्षार्थियों को 'स्टाइपेन्ड' मिलता है जिससे वहां का सारा ख़र्च उसी पैसे से चल जाता है. उसने मुझे भी वहां चलकर नामांकन के लिए प्रयास करने के लिए कहा

गीत

समय का महाजन क़दम गिन रहा है
हरेक सांस पल-पल यहां छिन रहा है.
विचारों की दुनिया में डूबा हुआ मन
उगलता रहा अश्रु-कण वेदनाएं,
दिल की लगी कोई सुनने न पाया,
मेरी भी तो है उनसे कुछ याचनाएं.
छुआ जिसके मन को वही अब उलटकर
रंगत बदल गिन मेरा दिन रहा है.
सहज राह पर तो चलते सभी हैं
सुख-गीत गाना भी कितना सरल है,
मगर डूब कर जिसने समझा है जीवन
तो पाया ये जीवन गरल ही गरल है.
उलझी है तानी और भरनी से चादर
सदियों से कबीरा उसे बिन रहा है.
भटकते रहे व्यर्थ सुमन-गंध पीछे
सिमटता गया है विचारों का आंगन,
कहां सुना पाता अब कू-कू सुरीली
कांटों की शाखें छितराये हैं कानन
गड़े इतिहासों में छिपे शब्द मेरे
नहीं अर्थ जीवन का मुमकिन रहा है.

मुखौटा

आप मुझे जो भी समझें
पर, मैं बार-बार आप तक गया हूं
और लेकर उधार
ज़िंदगी जिया हूं.
मैं कबीर तो नहीं
जो ज्यों का त्यों धर दूं,
मैंने चादर मैली कर दी है...
और वह फट भी गयी -
जिसे अपने सरगम से
दिन-रात -
सूई-सूई सिया हूं.
मैं अपने अल्प स्नेह से
देहरी का एक टिमटिमाता दीया हूं
अनजाने ही सुधा-रस उड़ेल
आकंठ विष पिया हूं.
मैं सबके बीच रहकर भी
अकेला जिया हूं.
और ज़िंदा रहने के लिए
मुखौटा पहन लिया हूं !

गीत

✍ प्रणयी

नहीं घर है मेरा, किराये का घर है
पवन-सा यह जीवन सफ़र ही सफ़र है.
चुराई किरण बादलों ने ज़मीं से
इस अपहरण से फिर डर ही तो डर है.
लिखी जो कहानी नियति ने करों से
न होंगे कभी एक ये आग-पानी,
खिलते सुमन से टपकती-जो शबनम
कहती सिहर है यही ज़िंदगानी
गगन से विदा चांदनी हो रही है,
धरा पर मुखर अब न कोई डगर है.
उन्हें क्या भरोसा भंवर की नीयत पर
क़फन शीश बांधे निकल जो रहे हैं,
उन्हें ढूंढ़ना अर्थ है ज़िंदगी का
ये प्रश्न पूछने यक्ष निकल तो रहे हैं.
मेरे मन के द्वीपों में पसरी विरानी-
पता ही न था यह सुनामी लहर है.
कहां से चला और कहां जा रहा मैं
कहां रोकने कोई दिलवर यहां है,
बहारों के घर में भटकने से अच्छा
मुनासिब है जाना भटकना कहां है.
पराई धरोहर को अपना न समझें-
समय का महाजन सुनाता गज़र है.

ग़ज़ल

बहुत सनकी मिज़ाजी है, बंधी हैं, मुट्ठियां उसकी,
कहीं न ख़ुदकुशी कर ले, हटा लो रस्सियां उसकी.
चुनावी पेंच से उसको मिला है जीत का सेहरा,
समर्थन से सुरक्षित अब न होंगी कुर्सियां उसकी.
अकड़ ढीली भी करने का हुनर जनता के हाथों है,
हवा मिलने न पाये बंद कर दो खिड़कियां उसकी.
बड़ा ही नाज था आकाश में परवाज पर जिसको,
करिश्मा है यह मेरा गिर रही हैं टोपियां उसकी.
भरे खाते हक़ों को मारकर रौशन किया ख़ुद को,
मिलावट से सनी है ख़ून से ही रोटियां उसकी.
वह निकला बेवफ़ा आख़िर जो सरमाया था जीवन का,
जला दो 'प्रणयी' जी आज एक-एक चिट्ठियां उसकी.

मुझे उसकी बात जंची और मैं दूसरे ही दिन उसके साथ टीकापट्टी चला गया. वहां पहुंचने पर दूसरे सत्र में पढ़ने वाले मेरे पूर्व परिचित प्रशिक्षार्थियों से मेरी भेंट हुई. उन्होंने मेरी सहायता की और प्राचार्य महोदय से मेरी विशेष कलाओं की चर्चा करते हुए परिचय कराया. प्राचार्य श्री सूर्यदेव सिंह स्वयं कलाप्रेमी और मजे हुए कवि थे. मैंने उनसे नामांकन हेतु जब अनुरोध किया, तो उन्होंने उसी दिन प्रशिक्षण केंद्र में आयोजित सांस्कृतिक बैठक में अपनी कला के प्रदर्शन का अवसर देते हुए आश्वस्त किया कि कला देखने के बाद ही नामांकन का निर्णय होगा. रात्रि के सांस्कृतिक कार्यक्रम में मैंने कविता, भजन, भाव नृत्य तथा फिल्मी गीतों के साथ इतने आकर्षक कार्यक्रम प्रदर्शित किये कि सभी बाग-बाग हो गये. प्राचार्य महोदय ने मेरे बारे में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा था - हमें ऐसे ही कलाकार की खोज थी. आपको पाकर हमने सब कुछ पा लिया. आपका नामांकन अवश्य होगा. और दूसरे दिन मेरा नामांकन हो गया. मेरी प्रसन्नता की सीमा न थी. जिस टीकापट्टी में महात्मा गांधी, राजेंद्र प्रसाद, बिनोबा भावे जैसे महापुरुषों के पदार्पण से वहां की माटी पवित्र हुई है. आज मैं उस माटी की धूल से सुवासित था, फिर तो मैंने वहां दो साल की प्रशिक्षण-अवधि में अपने प्रति विशेष सचेष्ट रहकर अपने व्यक्तित्व को संवारा. उन दिनों मैं अत्याधिक संवेदनशील और भावप्रवण था. टीकापट्टी की साहित्यिक भावभूमि उर्वर थी जहां धनिकलाल 'प्रेमी', तारिणी प्रसाद 'निर्झर', राम नारायण 'तूफान' और सौरभ जैसे प्रख्यात साहित्यकारों के संपर्क में अपने को मांजने का अवसर मिला. इस दिशा में प्राचार्य सूर्यदेव सिंह भी मेरे सहायक रहे, दूसरी ओर टीकापट्टी की चर्चित नाट्य समिति में बेनीपुरी जी का चर्चित नाटक - "आम्रपाली" में भी भाग लेकर अपनी अभिनय कला से नाम कमाया. वहीं सर्वोदयी नेता बाबा वैद्यनाथ चौधरी, भोलानाथ मंडल, भोला पासवान शास्त्री, डॉ. लक्ष्मी नारायण सुधांशु जी जैसे अग्रिम पंक्ति के नेताओं के संपर्क में आया. टीकापट्टी प्रशिक्षण विद्यालय के साहित्यिक वातावरण में मेरे कविता लेखन का विकास हुआ, वहां काव्य-श्रोता अधिक थे. प्रशिक्षण विद्यालय से ही मेरी पहली दिल्ली यात्रा हुई थी और आचार्य विनोबा भावे के भूदान यज्ञ आंदोलन में भाग लेने का भी अवसर दिया गया था. मैंने सिंधी कवि एवं नेता हुंदराज लीलाराम दुखायल के साथ दो सप्ताह पदयात्रा की थी और खंजड़ी बजाकर भूदान यज्ञ में अपनी सहभागिता दी.

१९५६ में जब मेरा दो वर्षों का शिक्षक प्रशिक्षण कोर्स समाप्त हो गया, तो शिक्षक में बहाली होने की प्रतीक्षा में मैं पुनः घर बैठ गया. इसी बीच मां के विशेष आग्रह पर अपनी धर्मपत्नी की विदाई कराकर घर ले आया. अब वह घर में मां की सहायिका बनी. अर्थोपार्जन के ख़्याल से मैंने नौटंकी-कंपनी में योगदान किया. उन दिनों कंपनी बड़े-बड़े नगरों तथा मेले-बाज़ार में भ्रमण करती थी. कंपनी में चर्चित नर्तकियों के साथ मुझे डांस में भाग लेना होता था. किसी कारणवश कंपनी दो-चार दिनों के लिए बंद रहती, तो अर्थोपार्जन के उद्देश्य से मैं मोजरापट्टी में हारमोनियम बजाकर कुछ न कुछ अवश्य अर्जित कर लेता था. उसी आय से मैंने गांव में फूस के दो सुंदर घर दरवाज़े बना लिये.

१९५६ में ही तीस रूपये प्रतिमाह पर मेरी नियुक्ति पंचवर्षीय योजनांतर्गत गांव से सुदूर एक निम्न प्राथमिक विद्यालय में हो गयी जहां कुछ सवर्णों के अलावा सघन रूप से आदिवासी बसे थे. पड़ोसी गांव के कुछ दबंग लोग आदिवासियों का शोषण करते थे. मैंने निष्ठापूर्वक बच्चों को पढ़ाया और आदिवासियों को शोषण से बचाने का जोखिम भी उठाया. पड़ोस में बनैली स्टेट के राजा श्यामानंद सिंह थे. वह शास्त्रीय संगीत के प्रख्यात गायक थे. सौभाग्य से मेरे गायन की चर्चा जब उनके पास पहुंची, तो उन्होंने मुझे सादर अपनी ड्योढ़ी में बुलवाकर मेरा भजन-गायन सुना. फिर तो वहां मैंने दो वर्षों तक उन महान संगीतज्ञ की कृपा छाया में सानंद समय बिताया. १९५७ में मेरे घुटने में पीड़ा हुई. जब उसके चिकित्सार्थ पूर्णियां के डॉक्टर के पास गया, तो उन्होंने लहेरिया सराय जाकर किसी हड्डी विशेषज्ञ को दिखाने की सलाह दी, और जब वहां गया, तो जांच के बाद बढ़ी हुई हड्डी कटवानी पड़ी. इस तरह मेरा नृत्य में थिरकना सदा के लिए बंद हो गया. यद्यपि आज इस सत्तर वर्षीय नर्तक के पांव में घुंघरुओं की पट्टी बंधी नहीं है, पर उसका लयात्मक संस्कार मेरी काव्य रचनाओं में देखा जा सकता है. वहां करीब एक वर्ष से अधिक समय तक लाठी के सहारे चलना-फिरना पड़ा. इसी बीच विश्वनाथ दास 'देहाती' जी से मेरी भेंट हो गयी. वह भी शिक्षक थे. उन्होंने अपनी एक लघु कृति 'सुंदरी' पढ़ने के लिए दी. उस लघु उपन्यास ने मुझे भीतर से उपन्यास लेखन के लिए प्रेरित किया, फलस्वरूप अपने ही जीवन पर आधारित 'वह इंसान था' (उपन्यास) १९६२ में प्रकाशित करवाया जिसकी भूमिका प्रख्यात आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वर नाथ रेणु ने लिखने की कृपा की थी और जिसकी पांडुलिपि देखने की कृपा गुरुदेव श्री अमोघ ने की थी.

१९५९ में मैं स्थांतरित होकर जब गांव के प्राथमिक विद्यालय में आ गया तो मुझे यहां अपने विद्यालय को आदर्श रूप देने में पूरी सफलता मिली साथ ही स्कूल निरीक्षकों के द्वारा शोषित शिक्षकों को राहत दिलाने में नेतागिरी करनी पड़ी. फलस्वरूप शिक्षक, पदाधिकारी, छात्र और शिक्षा प्रेमियों की प्रेरणा पर मैंने 'मुझे स्कूल जाने दो' उपन्यास लिखा. जिसके प्रकाशित होते ही मैं उपन्यासकार के रूप में ख़ूब चर्चित हुआ. करीब ग्यारह वर्षों तक गांव के विद्यालय में सेवा देने के बाद मेरा चयन आदर्श शिक्षक के रूप में हुआ और शिक्षा अधीक्षक ने मेरा स्थानांतरण आदर्श मध्य विद्यालय अररिया में कर दिया. वहां जाने पर मेरे साहित्यिक फलक का विस्तार हुआ. सहयोगियों से कुछ नया लिखने की प्रेरणा मिलती रही. बिहार शिक्षा संघ से निकलने वाली पत्रिका 'राष्ट्र निर्माता' में जब मेरी एक लंबी कविता 'मैं राष्ट्र निर्माता हूं' प्रकाशित

हुई तो मैं एक अच्छे कवि के रूप में संपूर्ण बिहार में प्रतिष्ठित हो गया. वहीं से मैंने बिहार हिंदी विद्यापीठ, देवघर से "साहित्य भूषण" की परीक्षा पास की जिससे मेरा वेतनमान बढ़ गया. नया वेतनमान प्राप्त करने के लिए मेरा स्थानांतरण पुनः हुआ सुदूर देहाती क्षेत्र में. यहां मुझे 'विदग्धा' उपन्यास लिखने का सुयोग मिला, जिसका प्रकाशन १९६८ में अररिया के डॉ. वी. सी. पी. वर्मा एवं उनकी पत्नी सुश्री कनकलता के सौजन्य से हुआ. मेरे इस उपन्यास पर भी रेणु जी ने भूमिका लिखी और चर्चित उपन्यासकार अनूपलाल मंडल साहित्यरत्न ने सम्मति लिखने की कृपा की. इस उपन्यास की साहित्य जगत में अच्छी चर्चा हुई. सिने कलाकार राजकूपर ने भी इसे पढ़कर फिल्म बनाने का मन बना लिया था कि इसी बीच उनका देहावसान हो गया.

१९७० में पुनः मेरा स्थानांतरण अररिया जिला मुख्यालय के आदर्श मध्य विद्यालय में हुआ और १९९३ तक सेवा करने का मौक़ा मिला. इस विद्यालय में इतनी व्यस्तता रही कि कुछ लिखने का सुयोग ही नहीं मिला. फिर भी विद्यालयीन छात्र-छात्राओं के लिए एक छोटी सी पुस्तक 'धूप के फूल' काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ. स्थानीय युवाओं को संगठित कर एक साहित्य-मंच की स्थापना की जिनके द्वारा समय-समय पर कवि गोष्ठी और मुशायरे का आयोजन होता रहा. १९८१ की जनगणना में उत्कृष्ट सेवा के लिए मैं राष्ट्रपति भारत सरकार द्वारा रजत-पदक से सम्मानित हुआ और १९९३ के स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से जब अपेक्षित राशि के साथ साहित्य-सेवा सम्मान का प्रशस्ति-पत्र भी मिला तो बीच में अवरुद्ध हुई मेरी साहित्यिक धारा पुनः निकल पड़ी. अब लेखन को अनिवार्य समझकर लिखने लगा, पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगा. दूर-दूर के साहित्यिक कार्यक्रमों में भाग लेने लगा, जहां से मुझे सम्मान-पत्र भी अवश्य मिलते. १९९६ में सेवा-निवृत्ति के बाद लगातार मेरे दो खंड काव्य और एक काव्य संग्रह प्रकाशित हुए. बाद में अयन प्रकाशन, दिल्ली से दो पुस्तकें जिनमें एक उपन्यास और एक कथा-संग्रह प्रकाशित हुआ. संतमत से जुड़े रहने के कारण अध्यात्म दर्शन से संबद्ध पुस्तक 'चलिए पिय के देश' भी प्रकाशित हुई.

साहित्य सेवा हेतु मैं २००४ में अपने दोनों सुपुत्रों को घरवार सुपुर्द कर जिला मुख्यालय अररिया आ गया. यहां आकर मैंने साहित्यकारों को संगठित कर 'संवदिया' हिंदी त्रैमासिक का संपादन कार्य प्रारंभ किया जिससे यहां की साहित्यिक गतिविधि में उछाल आया है. संपादन कार्य में अनुज सदृश डॉ. उदित कुमार वर्मा का सहयोग मिला.

अब 'संवदिया' का यह दूसरा वर्ष चल रहा है. इससे इस माटी के साहित्यकार जुड़े हैं और इसका प्रचार-प्रसार राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है.

दर्जन से भी अधिक साहित्य सम्मान-पत्रों की उपलब्धियों से ऐसा लगता है कि मैं अपने पिताजी की मनोकामनाएं पूरी कर उऋण हो गया हूं. प्राथमिक विद्यालय की शिक्षण-सेवा में रहकर हिंदी साहित्य के जिस मुक़ाम पर प्रतिष्ठित हुआ, इससे मैं संतुष्ट हूं. मुझे अपने कर्म पर निष्ठा है. अभी भी एक 'गीत-ग़ज़ल' की पुस्तक छपकर तैयार है और एक आत्मकथात्मक उपन्यास 'अक्षर पुरुष' की पांडुलिपि भी तैयार हो रही है. मैंने अपने कर्म पर अपनी उम्र को कभी हावी नहीं होने दिया. मुझे ऐसा लगता है मैंने साहित्य को कुछ नहीं दिया है अगर अंतिम सांस तक भी कुछ दे पाया, तो यही मेरे जीवन की उपलब्धि होगी.

वार्ड नं. १७, काली मंदिर चौक से पूरब,
अररिया-८५४३११

लघुकथा

दहशत

डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम'

"अम्मी कल रोहतास जा रही हैं !" रुबिया ने बड़े भाई जान को कमरे में दाखिल होते हुए देखकर कहा.

"मगर अम्मी जान किसे साथ लेकर जा रही हैं ?" अमजद ने जानना चाहा.

"फिलहाल तो इरादा यही है कि अम्मी के साथ में अब्बू जान जायेंगे. दूसरा तो कोई फ़ुर्सत में है नहीं. आपको अपनी कोचिंग क्लासेज़ करनी हैं, फैज़ी को इम्तेहान की तैयारी और मैं तो जा ही नहीं सकती." रुबिया ने स्थिति स्पष्ट करने की कोशिश की.

अचानक उसी कमरे में अब्बू आ गये. उन पर अमजद की नज़र गयी तो बेबाक लहजे में बोला - "अम्मी को अब्बू जान के साथ कहीं भेजना कोई सही क़दम नहीं होगा. तुम सब देख ही रहे हो कि दुर्गापूजा के बहाने पास के शहर में दंगा हुआ है. हालात काबू में नहीं आ रहे हैं. मुसलमानों की सत्तर दुकानें जला दी गयीं और उनके ठेलों को भी सामान के साथ आग के हवाले कर दिया गया. बस मारकाट होना बाकी है..."

अमजद की बातें सुनकर सब सोच में पड़ गये. चूंकि ट्रेन को उस शहर के स्टेशन तक जाना था, जहां यह बवाल मचा हुआ था. टी.वी. और अख़बार की ख़बरों पर यक़ीन करना मुश्किल हो रहा था क्योंकि टेलीफोन और मोबाइल पर ख़बरें कुछ और ही मिल रही थीं.

कुछ पलों की गहरी ख़ामोशी के बाद अमजद ने कहा, "इस दंगे-फ़साद में कहीं फंस गये तो अब्बू तो मारे ही जायेंगे साथ ही साथ जाने वाले की जान की भी ख़ैर नहीं... मैं तो यही कहूंगा कि इस मुल्क में ज़िंदा रहना है तो इसके मिज़ाज़ का भी ख़्याल रखना होगा. दाढ़ी रखने वाले न जाने कितने लोग मारे गये ऐसे ही हादसों में. आप जानते हैं क्यों ? इसलिए कि उन्होंने दाढ़ी रखी थी और उनको मुसलमान समझ लिया गया."

६/२ हारून नगर कॉलोनी,
फुलवारी शरीफ, पटना-८०१५०५

सागर / सीपी

"मैं लेखन को शब्दों की आराधना मानता हूं"

- डॉ. सतीश दुबे

('कथाबिंब' के लिए साहित्यकार डॉ. सतीश दुबे से स्मृति जोशी की बातचीत.)

(साहित्य-संसार में ऐसे वटवृक्ष विरले ही हैं जिनकी ठंडी छांव तले नन्हें पौधे जीवन-रस पा सकें. डॉ. सतीश दुबे एक ऐसे प्रखर रचनाधर्मी हैं जिन्होंने प्रायोजित दौर की कुत्सित राजनीति से परे मौन रहकर साहित्य-सृजन को अपने जीवन का शुभ ध्येय बनाया है. असाध्य रुग्णता से संघर्षरत डॉ. दुबे स्वाभिमान, स्नेह, साहस और सौजन्यता की साक्षात प्रतिमूर्ति हैं. आपने साहित्य में मूल्यों और परिधियों को ससम्मान स्वीकारते हुए भी क्रांतिकारी सोच को विलक्षण तेवर के साथ प्रस्तुत किया है.)

● **लेखन में आपका आगमन या जुड़ाव कैसे हुआ ?**

जन्म के एक वर्ष बाद मां के प्यार-दुलार से वंचित बचपन पिताजी की दोहरी ज़िम्मेदारियों के साये में बीता. यह कहना मुश्किल है कि 'पंडिताई' के साथ कृषि का परंपरागत आजीविका का माध्यम तथा पैतृक क़स्बा हातोद छोड़कर वे नौकरी-पेशा से क्यों जुड़े ! हो सकता है अपने समय के 'शिक्षित-व्यक्ति' होने के कारण यह सब रास नहीं आया हो या कोई अन्य वजह. मैंने जब अपनी समझ की आंख खोली तब अपने से उम्र में पांच-छः साल बड़ी बहन के साथ, उन्हें इंदौर से दूर मालवा के ही एक गांव फुलान में राजस्व संबंधी कागज़ात बनाने वाले दिवानजी के रूप में कार्यरत देखा. यह एक जागीरदार के मिल्कियत गांवों का मुख्यालय था. हमारे क्वार्टर्स से कुछ दूरी पर विस्तृत परिसर में जागीरदार की विशाल ख़ाली कोठी थी. यह स्वतंत्रता-संग्राम के अंतिम वर्षों का समय था, संभवतः इसलिए जागीरदार परिवार यहां से इंदौर शिफ्ट हो गया हो. यहां या इस क्षेत्र में रहते हुए बड़े निकट से जो देखने को मिला, वह था - गांवों की संरचना, वहां के लोग, अभाव, ग़रीबी, अंधविश्वास, आस्था, प्रकृति के उपादानों के साथ जागीरदार के लिए कौड़ी मूल्यों में तुलते घी के डिब्बे, अहलकारों के उपयोग हेतु लकड़ी चीरते, चिमनी-कंदिल या झाड़ू बुहारा करते छोटी जाति के लोग, पेट से घुटने चिपकाकर हाथ जोड़ हड़वा खाते ग़रीब किसान, खेतिहर मज़दूर व क़र्ज़ या रुपया नहीं चुका पाने के कारण सरे बाज़ार में हरी किमड़ियों से पीटे जाते थरथराते क़र्जदार. बाल-मन पर गहरा असर डालने वाले ऐसे प्रसंगों और घटनाओं ने समझ आने पर अवचेतन से निकलकर लेखन के रूप में उनके अर्थों को परिभाषित करने का मौक़ा दिया.

● **विधिवत लेखन आपका कैसे शुरू हुआ ?**

पढ़ाई के लिए पिताजी ने पहले निकट के क़स्बे में रह रहे बड़े भाई के यहां रखा, वहां भौजी को जमा नहीं तो पढ़ाई कर रहे मझले भाई के पास इंदौर रख दिया. यहां मुझे पढ़ने का चस्का लगा. रूम पर भाई साहब कोर्स के अलावा साहित्य की पुस्तकें लाया करते, जिनमें व्यंग्य की भी होती थीं. विद्रूपताओं पर प्रहार करने वाली व्यंग्य की धार ने मुझे प्रभावित किया. सन १९६० में एक साथ 'नोकझोक' (असत्यमेव जयते), 'सरिता' (शनि महाराज के नाम डी. ओ.) तथा स्थानीय 'जागरण' में (साहब का मूड) याने तीन प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित हुईं. इस प्रकाशन-प्रोत्साहन को १९६५ में श्री बांकेविहारी भटनागर ने साप्ताहिक हिंदुस्तान में कहानी 'शंकर भगवान गिरफ़्तार' प्रकाशित कर, चरम पर पहुंचा दिया. कहानी के ठीक सामने वाले पृष्ठ पर आदरणीय शिवमंगलजी 'सुमन' की प्रसिद्ध कविता 'कोई मशाल जलाओ रे, बड़ा अंधेरा है...' होने के कारण, 'सुमनजी के साथ छपने' की दोहरी ख़ुशी थी. और यूं लेखन का व्यवस्थित सिलसिला शुरू हुआ.

● **व्यंग्य का शुरूआती लेखन छूट क्यों गया ?**

छूटा नहीं, अंतर्धारा के रूप में मेरे लेखन की गहराई से जुड़ गया. यदा-कदा लिखी गयी व्यंग्य रचनाओं को हमेशा सराहना मिली. यहां से १९७१ में प्रकाशित साप्ताहिक 'कालभारत' में व्यंग्य स्तंभ 'राम झरोखा बैठिके सबका मुजरा देख' लिखते हुए भी मैंने ऐसा ही अनुभव किया.

● **आपने पढ़ने का चस्का लगने की बात कही, इसे थोड़ा विस्तार दीजिए ?**

'चस्का' शब्द का प्रयोग मैंने इसलिए किया कि, कुर्ता-पाजामा, सिर पर टोपी, पैरों में साधारण चप्पल पहनने वाले गांव से आये सात वर्षीय बालक जिसे परिवार में 'मां मिले न मासी, सीतामाई रखवाली' उक्ति चरितार्थ करता माहौल मिला हो, उसके लिए शहरी चकाचौंध से प्रभावित होना स्वाभाविक था. पर, ऐसा हुआ नहीं. कमरे के एकांत में प्रायः क़स्बे में सुनी और ज़ुबान पर चढ़ी सियारामशरण गुप्त की कविता 'एक फूल की चाह' गुनगुनाता रहता. इस कविता ने मुझे समाज में व्याप्त जातीय-विषमता के साहित्यिक-संस्कार दिये. कमरे में जो मिलता उसके अलावा कभी-कभार हाट में बिकने वाली सामान्य पुस्तकें जेब ख़र्च से ख़रीद लाता. भाई साहब का जीवन व्यवस्थित होने तथा पिताजी की सेवानिवृत्ति तक हम एक अच्छे मोहल्ले के लंबे चौड़े मकान में शिफ्ट हो गये थे. यहां मेरी पढ़ने-लिखने की सुविधा में इजाफ़ा हुआ. प्रारंभिक दौर में गोपाल प्रसाद व्यास की कविताएं, कृष्णचंदर

की 'एक गधे की आत्मकथा', 'एक गधा नेफा में' श्यामसुंदर व्यास की 'गिलट के झुमके' उपन्यास तथा पत्रिकाओं में अन्यों के साथ हरिशंकर परसाई को पढ़ा. शरतचंद्र को पढ़ने का चलन होने के कारण उनके तक़रीबन सभी उपन्यास पढ़े. इसी दौरान रवींद्रनाथ टैगौर का 'गोरा' पढ़ने का मौका मिला, जिसने अत्याधिक प्रभावित किया. 'आनंदमठ' तो दिल दिमाग़ में बस गया. हिंदी में 'गुनाहों का देवता' तथा 'झूठा सच' विपरीत ध्रुवों के इन दोनों उपन्यासों से सबसे पहले साक्षात्कार हुआ. कोर्स में प्रेमचंद की 'नमक का दरोगा,' 'ठकुर का कुंआ', जैनेंद्र की 'अपना अपना भाग्य,' महादेवी की 'घीसा,' सुदर्शन की 'हार की जीत,' गुलेरीजी की 'उसने कहा था' पढ़ने को मिली. प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' और 'रंगभूमि' दोनों एक साथ पढ़े और होरी के बजाय सूरदास के चरित्र ने अधिक प्रभावित किया. यह धारणा बनी कि शोषण के माहौल में रिरियाती ज़िंदगी जीने के बजाय, अपने में संघर्ष चेतना पैदा कर उसका मुक़ाबला करना बेहतर है. इक्कीस साल की उम्र तक तुलसीदास का पूरा साहित्य पढ़ लिया. 'विनय पत्रिका' की प्रति पत्नी को 'मुंह दिखाई' में भेंट की, पर राम के दर्शन, निरालाजी की 'राम की शक्ति पूजा' की उन पंक्तियों में हुए जहां वे संघर्ष करते-करते हारे हुए व्यक्ति की तरह आंखों में आंसू भरकर विलाप करते हैं. पारिवारिक-जीवन से पलायन की अपेक्षा उससे जूझते हुए भक्ति में शक्ति पैदा कर वैचारिक-क्रांति में विश्वास रखने वाले संत-कवियों, विशेषकर कबीर ने मुझे बहुत प्रभावित किया. और उसके बाद बिना किसी से समझौता किये अपनी बात बेबाक ढंग से कहने वाले सुदामाप्रसाद पांडेय 'धूमिल' ने. बातचीत को विस्तार से बचाने के लिए इतना कहना पर्याप्त होगा कि, अपने समकालीन हर श्रेष्ठ कथाकार-कवि और पत्रिकाओं के माध्यम से नयी-पीढ़ी को पढ़ने का 'चस्का' अभी भी जारी है. अभी कुछ दिनों पूर्व ही मराठी के युवा कथाकार विश्वास पाटील का डॉ. रामजी तिवारी-रमेशचंद्र तिवारी के अनुवाद-माध्यम से आया पांच सौ पृष्ठों का सशक्त उपन्यास 'चंद्रमुखी' समाप्त किया है. ...हां विदेशी रचनाकारों को भी पढ़ा है, वह भी बड़े चाव से. इसकी शुरुआत विद्यालयीन-जीवन में चार्ल्स डिकेंस के ऑलिवर टिवस्ट से हुई. पुश्किन की रचनाओं से अधिक उसका आदर्शवादी जीवन दिमाग में घर बनाकर बैठ गया. एडगर-एलन पो तो मेरे लिए मानों अब आदर्श बन गये हैं. यह वह शख़्स था जो ज़िंदगी भर बीमार रहा किंतु उसकी कहानियों में बीमारी नहीं तलाशी जा सकती. हेनरी, मोपांसा, टाल्स्टाय, गोर्की एकदम याद आने वाले नाम हैं और कहानियां - 'गिफ्ट ऑफ मेजी' या 'द लॉन्ग एक्साइल'. अंत में, मॉरियो पूज़ो को मैं ज़रूर याद करना चाहूंगा, जिसने 'गॉडफादर' के माध्यम से अमरीका की आंतरिक-राजनीति या प्रजातंत्र को बख़ूबी बेनक़ाब किया है.

● **आपकी मुख्य विधा क्या है अर्थात स्वयं को आप किस विधा में अधिक सहज पाते हैं ?**

मैं लेखन को शब्दों की आराधना मानता हूं इसी वजह से अपनी अभिव्यक्ति के लिए मैंने किसी विधा-विशेष की बागड़ बंधी नहीं की, बावजूद इसके कहानी या लघुकथा के कैनवास पर अक्षरों के रंग भरने में मुझे अच्छा लगता है.

● **सृजन के प्रेरणा बीज आप कहां से प्राप्त करते हैं ?**

अपने ही आसपास का जीवन, उससे जुड़े लोग, देखे-सोचे अप्रत्याशित अनुभव, कोई विशेष घटना या प्रसंग मुझे लिखने के लिए मज़बूर करते हैं. कोशिश यह रहती है कि लेखन के केंद्र में कमज़ोरियां, अच्छाई, विवेक, चालाकी, चतुरता के माध्यम से अपनी पहचान देने वाला मनुष्य और उसका जीवन हो.

● **आपकी नज़र में श्रेष्ठ साहित्य क्या है ?**

अपने इर्द-गिर्द या जहां कहीं भी ऐसा कुछ घटित हो रहा है जो मानवीय-मूल्यों या मनुष्यता से परे है उसकी तस्वीर सामने लाकर, बेहतर ज़िंदगी जीने के लिए संघर्षरत व्यक्ति की लड़ाई में संवेदनात्मक-स्तर पर अपनी भागीदारी साबित कर सके.

● **समकालीन कहानी में संप्रेषणीयता विलुप्त हो रही है ?**

लेखन चाहे कहानी, कविता, किसी भी विधा या शैली में हो, संप्रेषणीयता इसकी पहली शर्त है. इसके बाधित होने संबंधी प्रश्न तब उठते हैं जब रचना रचनाकार तक सीमित होकर प्रयोगधर्मी हो जाती है. कहानी चूंकि जीवन की व्याख्या से सीधे जुड़ी होती है, इसलिए सुलझे हुए कथाकार प्रायः इस कूपमंडूक-प्रवृत्ति से अपने को बचाने की कोशिश करते हैं. आपका संकेत एकाध पत्रिका की कुछ कहानियों की ओर हो सकता है. मेरी दृष्टि में तो समकालीन कहानी पिछले दौर की अपेक्षा अपने समय और व्यक्ति के चरित्र को शिद्दत के साथ पाठकों से जोड़ने में कामयाब साबित हो रही है.

● **पात्रों की निराशा और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं को सहज स्वीकारने के पीछे क्या कारण हो सकता है ?**

उम्र के हर पड़ाव पर व्यक्ति संघर्ष से जूझता है. संघर्ष-चेतना उसे आंतरिक-शक्ति से मिलती है. जीवन में प्रायः ऐसे अवसर आते हैं, जब अंतर्निहित सक्रिय ऊर्जा पर निराशा और दुर्बलता की परत हावी हो जाती है. कहानी इस परत की व्याख्या कथ्य और पात्र के माध्यम से करती है. चूंकि पाठक भी प्रायः ऐसी मनोग्रंथियों से ग्रस्त होता है, इसी वजह से वह इसे सहज ग्राह्य कर लेता है.

● **समूचा साहित्य परिधियां तोड़ने को व्यग्र नजर आ रहा है ? यह समय की ज़रूरत है या हम ही भ्रम में जी रहे हैं ?**

जब सृजन, सामाजिक-मूल्यों को अनदेखा कर दिया जाता है, तब आक्रोश जनित इस प्रकार की चिंताओं का उठना स्वाभाविक है. पर निश्चित मानिए साहित्य कभी मूल्यों की परिधियां तोड़ने

या अपनी छवि भंग करने का आग्रह नहीं करता. अर्थ, यश और चर्चा लिप्सा की मानसिकता से ग्रस्त लेखन से न तो समूचा साहित्य-जगत संबद्ध होता है न ही इस प्रकार के लेखन को समाज द्वारा मान्यता दी जाती है. ज़ाहिर है, विकृतियों की तरंगों से उद्‌भूत इस प्रकार के सामयिक सृजन या सोच की समाज में न तो कभी मांग रही है न आज है. आपको ख़्याल होगा, 'हंस' पत्रिका के 'आत्मस्वीकृतियां' स्तंभ में जब केवल यौन-संबंधों की स्वीकृतियों का वर्णन होने लगा तो एक बड़े पाठक तथा लेखक-समूह ने उसे नकारा ही नहीं कइयों ने तो पत्रिका से रू-ब-रू होना तक बंद कर दिया.

● **वर्तमान संदर्भों में संस्कृति की पुनर्व्याख्या कितनी ज़रूरी है ?**

'सांस्कृतिक-विलंबन' के तहत सभ्यता और प्रौद्योगिकी का जैसे-जैसे विकास होता है संस्कृति के आंतरिक तथा बाह्य तत्व जड़ को बनाये रखकर स्वतः अपनी जीवन-शैली को नया आकार दे देते हैं. इसके लिए योजनाबद्ध तरीक़े से किसी आंदोलन की आवश्यकता नहीं होती.

● **''साहित्य में समाज'' और ''समाज से उपजा साहित्य'' एक समाजशास्त्री की नज़र से क्या भिन्नता पाते हैं, आप इन दोनों में ?**

पहली स्थिति में सृजन-प्रक्रिया लेखक से समाज की ओर होती है जबकि दूसरी में समाज से लेखक की ओर. ये दोनों समाज और साहित्य के अंतर्संबंधों को महीन सूत से बांधने वाली वे स्थितियां हैं जो साहित्य को समाज का प्रतिबिंब ही नहीं नियामक तथा उन्नायक भी घोषित करती हैं.

इन्हीं के तहत समाज, साहित्य से बदलाव के लिए आग़ाज़ करता है और साहित्य, अपने आईने में समाज को उसका चेहरा दिखाता है.

● **अपनी पंद्रह-बीस कृतियों के बीच आपने एकमात्र उपन्यास ''कुर्राटी'' लिखा है, वह भी आदिवासी भीलों पर, इसकी कोई विशेष वजह ?**

अपने ही शहर से डेढ़-दो सौ किलोमीटर दूर झाबुआ जिले में फैली ईसा से पांच-छः सौ वर्ष पूर्व की प्रजाति-तालिका में सम्मिलित इस आदिम वनवासी जाति के बारे में मैं बचपन से सुनता आ रहा था. संयोगवश नौकरी के सिलसिले में इस क़ौम को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला. मैंने महसूस किया कि, स्वतंत्रता के वर्षों बाद भी इस क्षेत्र के पिचहत्तर फीसदी लोग भूख और अभाव में जी रहे हैं. शासन की करोड़ों की योजनाएं उन तक पहुंच नहीं पा रही हैं. भूख के लिए अपराध, आंशिक-पलायन, या शोषण का शिकार होने के बावजूद ये लोग नाचते-गाते, हंसते हुए अपनी संस्कृति और जीवन-शैली से गहरे से जुड़े हैं. इनके पर्वों, मेलों, गीत, संगीत की विशेषता पूरे देश को अपनी ओर आकर्षित करती है. इसी रोमांचक-जीवन ने मेरे लेखक को शोषण के विरूद्ध इनकी लड़ाई में सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया.

● **उपन्यास को पढ़ते हुए मैंने अनुभव किया कि, इसके उत्तरार्द्ध का मेहंदीखेड़ा-कांड, मूल कथानक से कहीं मेल नहीं खाता, लगता है जैसे कुछ पृष्ठ जबरदस्ती जोड़ दिये गये हैं...**

यह पैनी-पकड़ आपकी खोजी पत्रकारिता-दृष्टि की परिचायक है. दरअसल यह अंश झाबुआ से दूर देवास जिले में घटित तत्कालीन घटना की सत्यकथा बयान करता है. जल, जंगल, जानवर और ज़मीन के लिए यह इस क्षेत्र के आदिवासियों की शासन से चुनौती पूर्ण लड़ाई का प्रसंग था. चूंकि मेरे उपन्यास का उद्देश्य भी युवा-पीढ़ी को, ज़मीन से जोड़कर अधिकारों की रक्षा के लिए सजग करना था, इसलिए मैंने अपने समय की इस महत्वपूर्ण घटना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया.

● **क्या कारण है कि, इस महत्वपूर्ण उपन्यास की जितनी चर्चा होना चाहिए, हो नहीं पायी ?**

वस्तुतः चर्चा होती नहीं, करवाई जाती है. लेकिन मुझे कोई शिकायत नहीं, मेरा मानना है कि जब भी मूल्यांकन होगा, चर्चा होगी.

● **''प्रायोजित'' दौर की ऐसी स्थितियों में सच्चे और अच्छे लेखन का मूल्यांकन प्रभावित हुआ है. आप कितने सहमत हैं ?**

हां, विशेष रूप से उन नये और गुमनामी में खोये रचनाकारों का लेखन जो 'प्रतिध्वनित' होने वाले लेखन से कई गुना बेहतर है.

● **क्या आज का युवा साहित्य से परहेज़ करने लगा है ?**

ऐसा तो नहीं, पर यह सही है कि व्यक्तिगत जद्दोजहद के कारण वह साहित्य से जुड़ नहीं पाता. वैसे देखा जाय तो लेखक, पाठक, संपादक के रूप में जो नयी पीढ़ी आ रही है, वह पहले की अपेक्षा अधिक शार्प है. एक सर्वे के अनुसार विभिन्न स्थानों पर लगने वाले पुस्तक प्रदर्शनी या मेलों में सक्रिय भागीदारी युवा-पीढ़ी की होती है.

● **'स्त्री विमर्श' के नाम पर जो परिवेश निर्मित हुआ है आपकी नज़र में कितना उचित है ?**

भौतिक-वातावरण से प्रभावित होकर 'वस्तु' बनने की प्रवृत्ति ने जहां एक ओर स्त्री की छवि को धूमिल किया है वहीं दूसरी ओर प्रतिभा के बल पर विभिन्न क्षेत्रों की उपलब्धियों ने उसे पुरुष की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठ प्रदान की है.

● **साहित्य में महाधीशों की परंपरा बढ़ने से सबसे अधिक किस चीज़ पर असर पड़ा है ?**

साहित्य के प्रति आस्था पर.

● **साहित्य में 'धर्म प्रतीकों' के इस्तेमाल से आप सहमत हैं?**

सकारात्मक होने की स्थिति में.

१२ दिसंबर १९४०, इंदौर,
एम. ए (हिंदी/समाजशास्त्र), पीएच. डी.
'कथाबिंब' के हितैषी एवं नियमित कथाकार

● **साहित्य में 'इतिहास बोध की अनिवार्यता' को कहां तक सही मानते हैं ?**

साहित्यकार के लिए ज़रूरी है. साहित्य में होना या न होना यह विषयवस्तु पर निर्भर करता है. वैसे प्रेमचंद का मानना है कि इतिहास के ऐसे पात्र, घटनाएं या प्रसंग, जो सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं उन्हें साहित्य रूप देकर समाज के सामने लाना चाहिए.

● **साहित्यकारों में वैचारिक असहिष्णुता एवं संकीर्णता पर आपके विचार ?**

राजनैतिक-मानसिकता हावी होने पर जब साहित्य-जगत खांचों और दलों में विभाजित हो जाता है तब सोच का प्रवाह तलैय्या का आकार ले लेता है तथा दलीय-बंधु उसमें बैठकर जुगाली करने में ही आनंद महसूस करते हैं. यह प्रवृत्ति इन दिनों महान से सामान्य तक ख़ूब फल-फूल रही है. साहित्यिक-माहौल इससे किस क़दर प्रभावित हो रहा है, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है.

● **आजकल आप क्या लिख रहे हैं ?**

कहानियां, लघुकथाएं, पुस्तक-समीक्षा जैसे रूटीन लेखन के अलावा, योजनाबद्ध कुछ नहीं.

● **समकालीन नवागत लेखकों के लिए आपका संदेश ?**

शुभकामनाएं. वैसे मैं संदेश या आशीर्वाद देने वालों की श्रेणी में अपने को शुमार नहीं करता.

✍ ७६६, सुदामा नगर, इंदौर-४५२ ००९

- स्मृति जोशी

✍ ए-५/विश्वविद्यालयीन व्याख्याता आवास,
ए. बी. रोड, इंदौर-४५२ ०१७

लघुकथा

समझौता

✍ डॉ. योगेंद्र नाथ शुक्ल

कार्यालय से आने के बाद से ही जयप्रकाश जी कागज़ पर बजट बनाने में लगे हुए थे.

वे कई माह से सरिता को साड़ी दिलाने की सोच रहे थे परंतु कोई न कोई आकस्मिक ख़र्च ऐसा आ जाता कि उन्हें समझौता करना पड़ जाता था. इस माह दशहरे का अतिरिक्त ख़र्च बढ़ गया था; किंतु बहुत खींचतान कर उन्होंने सरिता की साड़ी के लिए जगह बना ली थी. एक घंटे माथापच्ची करने के बाद मिली इस सफलता से उनका मन प्रसन्न हो गया था.

"सुनिए ! आशीष फटे जूते पहनकर स्कूल जाता है, सर उसे सबके सामने दो बार टोक चुके हैं....मुझे तो डर लगता है कि कहीं वह हीन भावना से ग्रसित न हो जाये.... वह जानता है कि लगातार ख़र्चे बढ़ रहे हैं, इसलिए आपसे कहने की हिम्मत नहीं कर पा रहा है."

सरिता की बात सुनकर उनका चेहरा उतर गया था. सरिता उनकी मनस्थिति समझ गयी थी.

"सुनिए ! इस बार आप आशीष की इच्छा पूरी कर दीजिए....आप मेरे लिए इतना सोचते हैं..... मेरा इतना ध्यान रखते हैं...इसकी मेरे मन में कितनी प्रसन्नता है, आप नहीं समझ सकते....साड़ी का क्या है, वह अगले माह दिला दीजिएगा."

जयप्रकाश जी देख रहे थे कि यह कहते हुए सरिता की आंखें सजल हो आयी थीं.

"सरिता, तुम कितनी समझदार हो.... यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे तुम्हारी जैसी पत्नी मिली."

यह कहते हुए उन्होंने जेब से पेन निकाला. कागज़ पर जहां "सरिता की साड़ी" लिखा था, उसे काटकर उन्होंने वहां "आशीष के जूते" लिख दिया.

✍ ३१०, सुदामा नगर, अन्नपूर्णा रोड, इंदौर (म. प्र.) ४५२ ००९.

वातायन

सिकुड़ता पाठक और साहित्य की गुणवत्ता

- गजेंद्र यथार्थ

आज के साहित्य के सामने यक्ष प्रश्न सिकुड़ते पाठक वर्ग का है. ढेरों कारणों के बावजूद साहित्य में उद्देश्यहीनता ही इसके लिए सर्वाधिक ज़िम्मेदार है जो निःसंदेह सामाजिक दायित्व बोध के निरंतर गिरते स्तर से जन्मी है. ज़मीन से कटी कृत्रिम विषय वस्तु और उबाऊ शिल्प साहित्य की रचनाधर्मिता को छिन्न-भिन्न कर दे रही है. अच्छे-बुरे की सोच, पाठक पर पड़ने वाले प्रभावों को तरजीह न देकर सांस्कृतिक पतन के नग्न यथार्थ के रूखे पक्ष को आज 'मुख्य धारा' का कथाकार आधुनिक कहानी की परिभाषा में संकलित कर रहा है. इस नीरस, बेजान साहित्य कर्म के लंबे अभ्यास ने पाठक को गहराई तक हतोत्साहित किया है. उद्देश्यहीन साहित्य ने पाठक के अंतस पर इतनी गहरी चोट पहुंचाई है कि वह दोबारा लौटने का नाम नहीं लेता, जो बचा-खुचा पाठक है वो अभिशप्त है ऐसी ही रचनाएं पढ़ने को. यह निश्चित है कि यदि ऐसा ही चलता रहा तो वह भी आज नहीं तो कल मुंह मोड़ लेगा. लेखक-गण हैं कि अहं-तुष्टि और आत्ममुग्धता के ठहरे स्तर से ज़रा-भी ऊपर उठने को तैयार नहीं. उनका प्रयोजन स्वयं को स्थापित करने की संकरी दीवारों में क़ैद है. वे रचना की गुणवत्ता के प्रश्नों से कतरा रहे हैं. यहां यह समझने की ज़रूरत है कि व्यापक पाठक वर्ग ही लेखक की सफलता, स्थापना तथा गुणवत्ता को सुनिश्चित करता है. पाठक से अलग न तो रचना और न ही रचनाकार का अस्तित्व संभव है.

पाठक वर्ग के लगातार सिकुड़ने का एक कारण और है. किशोर अवस्था में जब भाषा ज्ञान ऐसे स्तर तक पहुंच जाता है कि पाठ्यक्रम के अतिरिक्त पढ़ने की जिज्ञासा बढ़ती है, दुनिया जानने की, साहित्य के रसास्वादन की. यही जिज्ञासा स्थायी आदत के रूप में विकसित हो जाती है जो जीवन भर साहित्यिक पुस्तकों से जोड़े रखती है. वो स्थायी पाठक के रूप में किताबों के संसार से अलग नहीं रह सकता, उसके भीतर नया-नया ढूंढ़ने का मनोबोध हर-पल काम करता रहता है. तब पुस्तक से नये पाठक जोड़ने की प्रक्रिया में 'आज का साहित्य' आड़े आता है. आज की कहानी स्त्री-पुरुष संबंधों की धरती पर फैली है. समलैंगिकता जैसी विकृत विषय-वस्तु आधुनिक कहानी का पर्याय बन चुकी है. ढेरों लेखक, पत्रिकाएं और फिल्मकार इस क़िस्म की मानसिकता को सामाजिक मान्यता दिलाने पर अमादा हैं. जैसे-जैसे व्यवस्था का संकट बढ़ता जा रहा है समाज पतन की नयी-नयी सीढ़ियां उतर रहा है साहित्य की होड़ भी उसी दिशा में एक क़दम आगे रहने की है. अपशब्द, अश्लील वाक्य-विन्यास, घटिया से घटिया संदर्भ यहां तक कि रोज़मर्रा की गाली-गलौच बेखटक साहित्य में अतिक्रमण कर रही है. साहित्य, सौंदर्य नहीं घिन पैदा कर रहा है. प्रश्न यह उठता है, क्या दुनिया को जानने निकले कोमल-किशोर को इस प्रकार का साहित्य हम थमा सकते हैं ? यक़ीनन नहीं. कोई भी अभिभावक अपने बच्चों के स्त्री-पुरुष के गुप्त-संबंधों से पटे साहित्य को नहीं पढ़ने देगा. इसके विपरीत ऐसा साहित्य बच्चों से छिपाने का प्रयास करेगा. यदि ऐसा साहित्य होता जो अनपढ़-कोमल मस्तिष्क की सौंदर्यवृति को विकसित करे, जो जीवन के त्रासों, दबावों से उभरने की क्षमता पैदा करे तो हरेक अभिभावक कहीं से भी ढूंढ़कर उसे पढ़ाता. इसमें कोई संदेह नहीं कि शरतचंद्र, प्रेमचंद के साहित्य में अभी भी ये तेज विद्यमान है. आज के लेखक की बीस-बीस पुस्तकें प्रकाशित होने पर भी आम लोगों में उसे कोई जानता तक नहीं, और प्रकाशित पुस्तकें या तो कमीशन देकर लाईब्रेरियों में ठूंस दी गयी हैं या स्वयं लेखक के घर किसी उपेक्षित कोने में धूल खा रही हैं. दूसरी ओर शरतचंद्र, प्रेमचंद का साहित्य अभी भी सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला साहित्य है, और इनके साहित्य को यदि प्रकाशक कम मुनाफ़े में प्रकाशित करें तो पाठकों का दायरा बढ़ाया जा सकता है जो बात नये लेखकों पर लागू नहीं होती नज़र आती.

आज के लेखक का शिल्प संवृद्ध हुआ है. लेकिन उसे उसने यथार्थ को नग्नता से परोसने के प्रयास में ही व्यर्थ गंवा दिया है. बिना विषय-वस्तु और रचनात्मक दृष्टिकोण के मात्र घटनाओं, ऊलजलूल चिंतन प्रक्रिया को काग़ज़ पर उतार देने का कार्य कहानी बनकर रह गया है. आज के लेखन में सामाजिक सरोकर लेखकीय कार्य द्वारा घनीभूत नहीं होता. स्थिति इतनी भयावह है कि लेखक और समाज पर एक दूसरे की निर्भरता नहीं के बराबर है. लेखक की समाज के प्रति कोई ज़िम्मेदारी नहीं है तो कैसे समाज-सापेक्ष या प्रगतिशील रचना का निर्माण हो ? पाठक किसी भी रचना को क्यों पढ़े, इसका ठोस कारण रचना में होना ज़रूरी है.

यहां दो बिंदु उभरकर सामने आये हैं. एक-हर दिशा में साहित्य की गुणवत्ता में भारी पतन हुआ है. समाज की प्रगतिशील धारा में लेखकीय योगदान, रचनात्मक समाप्ति के स्तर पर आ खड़ा हो गया है. सामाजिक सरोकार के महत्वपूर्ण दायित्व से 'साहित्यकारों' ने किनारा कर लिया है. दूसरा बिंदु यह है - जो कुछ बचे-खुचे प्रगतिशील साहित्यकार हैं उनके द्वारा रचित विकासशील, जनोन्मुखी साहित्य को आम-आदमी तक पहुंचने का कोई स्थापित रास्ता नहीं है. प्रकाशक मुनाफ़े के सूत्र अनुसार क़दम उठाते हैं, वे सामाजिक सरोकार से बंधे नहीं हैं. न ही उनकी ज़िम्मेदारियां प्रगतिशील लेखकों जैसी हैं. ऐसे में सही, सटीक, जनोन्मुखी लेखन का ज़िम्मा लघुपत्रिकाओं को जाता है. विशेष कर उनके संपादकों को जो रचनाओं का चयन बड़े ही उत्तरदायित्व से संभालते हैं और जैसे-तैसे पत्रिका पर आर्थिक संकट नहीं आने देते.

डब्ल्यू. पी.-३३ सी, पीतम पुरा, दिल्ली-११००८८

पुस्तक समीक्षा

आम आदमी के सरोकारों की कहानियां

✍ गुरुदत्त पांडे

'एक हांफ़ती हुई शाम' (कहानी-संग्रह) : **राजेश जैन,**
प्रकाशक : ज्ञान भारती, ४/१४, रूपनगर, दिल्ली-११०००७.

साहित्य की समृद्धि सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों के साथ रचनाकारों की प्रायोगिक दृष्टि पर निर्भर करती है. साहित्य का क्षेत्र अनंत है. आज की परिस्थितियों में तो यह और भी विस्तृत हो गया है. इसलिए यह तर्क देना शोभा नहीं देता कि आज लिखा जा रहा साहित्य कल के लिखे की पुनरावृत्ति है. समाज बदल रहा है. विकासमान स्थितियों के इस दौर में लेखक की दृष्टि और पैनी हो चली है. उसके आगे बदलते समाज और तमाम दूरियों को ख़त्म करती वैश्विक परिस्थितियों के अनुभवों का समंदर है. उसके पास कथानक और विषय के साथ प्रयोग करने के अनेक विकल्प मौजूद हैं. वह विषय को लेकर 'रिपीट' होता नहीं दिखता.

देशकाल के साथ निरंतर नये विषय और परिवेश का अन्वेषण करते रहना ही साहित्य की समृद्धि का द्योतक है. इस कार्य में अब ऐसे रचनाकारों की रचनाएं प्रभावित करने लगी हैं, जिनका कार्यक्षेत्र सिविल सेवा से लेकर तकनीकी उद्यमों तक फैला हुआ है और पूर्णकालिक लेखक न होते हुए भी निरंतर लिख रहे हैं और अच्छा लिख रहे हैं. अशोक बाजपेयी, संजीव, नरेश सक्सेना जैसे लेखकों ने जहां हिंदी को नयी ऊंचाइयां दी है, वहीं राजेश जैन जैसे रचनाकारों ने अपने तकनीकी जीवन के अनुभवों को निरंतर कहानी-कविताओं, नाटक-उपन्यासों में शिद्दत से उकेरकर हिंदी साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज की है. 'टेक्नो-लिटरेरी' शैली में लिखी उनकी रचनाओं में अनुभव की ताज़गी महसूस की जा सकती है. समीक्ष्य कहानी संग्रह 'एक हांफती हुई शाम' इसी कड़ी में उनकी एक और उपलब्धि है.

राजेश जैन आम आदमी की भाषा को पकड़ते हैं. भाषा की यही सादगी उनके लेखन की विशेषता है, जो उन्हें पाठक के क़रीब भी ले जाती है. संग्रह की पहली कहानी 'गमले' विदेशों में बसे भारतीयों के दर्द और स्वदेश लौटने की उत्कट इच्छा को गमले में लगे पौधे और अपनी ज़मीन में जड़ जमा चुके पेड़ के बीच देखने वाले फटर्क को ज़ाहिर करके बख़ूबी पेश किया है. गमले में लगाया गया पौधा कितना अस्थायी होता है और घर के आंगन में उन्मुक्त बढ़ने वाला पौधा घर के मालिक को कितना सूकून देता है, इसका अहसास दिलाने में कहानी बहुत हद तक सफल होती है. यह निःसंदेह उनके विदेश प्रवास के दौरान का अनुभव रहा होगा.

उनकी भाषा में कुशल 'तकनीशीयन' की छाप है. जितनी कुशलता से वे 'बुत की आत्मा' में हरि के अंतर्द्वंद्व को विश्लेषित करते हैं, उतनी ही कारीगरी 'भूमिका' में एक ज़िम्मेदार पति के सूक्ष्म भावों को पकड़ने में उजागर होती है. 'बुत की आत्मा' में एक ऐसे दिहाड़ी कर्मचारी के प्रति 'परमानेन्ट' कर्मचारी के बर्ताव को व्यंगात्मक टोन देते हैं, जो कॉलेज के दिनों में उस दिहाड़ी कर्मचारी का सहपाठी रहते हुए हमेशा कम अंक अर्जित करता रहा है. सरकारी नौकरियों में योग्यता को दरकिनार करते हुए होने वाली निकम्मे कर्मचारियों की नियुक्तियों पर भी यह कहानी सीधे-सपाट प्रभावशाली तरीके से कटाक्ष करती है. संग्रह की कहानियों का विषय विविध होते हुए भी प्रत्येक कहानी के मूल में कोई न कोई गंभीर संदेश का बीज बोया हुआ है. अपनी दिवंगत पत्नी की 'भूमिका' में नयी दूसरी पत्नी को एडजस्ट करने में एक पति की उलझनों के बीच घर के दूसरे सदस्यों की सोच को बिंबों के सहारे गठी हुई भाषा में पेश करना लेखकीय कुशलता को दर्शाता है. ऐसी भावपूर्ण कहानियों को अनावश्यक विस्तार देने से लेखक को बचना भी चाहिए.

संग्रह की अधिकांश कहानियों में पात्रों द्वारा सीधे संवाद करते हुए कहानी को अंजाम तक ले जाना इसे और पठनीय बनाता है. एक छोटी सी घटना को आम आदमी के सरोकारों से जोड़ते हुए कहानी को रोमांचक मोड़ तक लाने में कथानक की रोचकता और बढ़ जाती है. समाचार पत्र में छपी विमान अपहरण की घटना को सुबह-सुबह पढ़ते हुए कहानी (अपहरण) के मध्यमवर्गीय नौकरी पेशा नायक को लगता है कि विमान की तरह ही उसकी इच्छाओं और विवेक का भी सारी उम्र जबरदस्ती अपहरण होता रहा है. ज़रूरतें और परिस्थितियां जैसे नक़ाबपोश अपहरणकर्ता हों, जिनकी अप्रत्याशित घुसपैठ हर किसी के अपहृत विमान रूपी दिमाग़ या घर में हो चुकी है. इसी कारण आम आदमी के चेहरे पर अपहृत विमान के यात्रियों की तरह उदासी और लाचारी के स्थायी भाव देखे जा सकते हैं और कुल मिलाकर यह देश भी अपहृत विमान की ही तरह दिग्भ्रमित जाने किस ओर जा रहा है ? ऐसी मामूली सी घटना को कथाकार व्यंग्य की चाबुक चलाकर यह सोचने को विवश कर देता है कि क्या हम ऐसे ही किसी समाज में नहीं रह रहे हैं, जहां बिना नक़ाब लगाये हर शख़्स सामने वाले की किसी न किसी चीज़ का अपहरण करने की फिराक़ में है.

व्यंग राजेश जैन का सशक्त हथियार है. व्यंग्य भी ऐसा जो हंसते-हंसाते ज़िंदगी की कड़वी सच्चाइयों को एकदम से सामने लाकर खड़ा कर दे. ऐसे व्यंग को नाट्य साहित्य में 'एंटरटेनिंग सेटायर' नाम दिया गया है. संग्रह की शीर्षक कहानी 'एक हांफ़ती

हुई शाम' इसी श्रेणी की एक उम्दा कहानी है. शुरू से लगभग आख़िर तक हंसते-हंसाते, तेज़ी से बढ़ती इस कहानी में कहीं भी नहीं लगता कि एकदम अंत में पहुंचकर हांफने लगेगी और पाठक को स्तब्ध कर देगी. १९८४ के दंगों का ज़िक्र आते ही पेरिस की खनखनाती रंगीन शाम का लुत्फ़ उठने वाले भारतीयों के चेहरे अवसाद की चपेट में आ जाते हैं. यह मानवीय संवेदनाओं के प्रति कथाकार के दायित्वबोध को दर्शाता है. 'रिसाव', 'अंगूठा छाप' और 'मुकदमा' समाज के बदलते मूल्यों का प्रतिबिंब है. पीढ़ी-दर-पीढ़ी मानवीय मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है, जिसका ख़ामियाजा उन्हीं बड़े-बज़ुर्गों को भुगतना भी पड़ रहा है, जिनसे ऐसे संस्कार नयी पीढ़ी को हस्तांतरित हुए हैं. इन कहानियों में व्यक्ति चित्र बेहतरीन है. शिल्प और भाषा के स्तर पर भी ये कहानियां परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ती हुई नज़र आती हैं

'खदान', 'पाइप में बहती नदियां', 'जी-साब' और 'अंधी रौशनी' कहानी में लेखक की 'टेक्नोलिटरेरी' शैली की झलक दिखाई पड़ती है. तकनीकी पृष्ठभूमि पर लिखी गयी कहानी 'खदान' पति-पत्नी के संबंधों की पड़ताल करती है, जिसमें पत्नी को लगता है कि उसका पति उसे 'ओपन कास्ट माइन' (खुई हुई खदान) की तरह बे-रोकटोक इस्तेमाल करना चाहता है, जहां से चाहे जितना कोयला निकालते जाओ बिना कोई ख़तरा उठये. जबकि 'पाइप में बहती नदियां' ज़िम्मेदार पदों पर आसीन भ्रष्ट सरकारी इंजीनियरों की ग़रीब और आम आदमी के प्रति संवेदनहीनता और ग़ैरज़िम्मेदाराना हरकतों का कच्चा चिट्ठा है. अपने घर के लॉन को सींचने के लिए या घर की छत को ठंडा रखने के लिए गैलनों पानी ये अफ़सर बहा देते हैं, लेकिन मजाल कि ग़रीबों के लिए पीने के पानी का इंतज़ाम हो जाये. तकनीकी शब्दावलियों के साथ मानवीय सरोकारों का बेजोड़ संगम इन कहानियों में परिलक्षित होता है. 'अंधी रोशनी' बिजलीघर में काम करने वाले संपतलाल के गांव से लेकर शहर तक के अंतः और बाह्य संघर्ष को सामने लाती है.

संग्रह की कहानियों का स्थापत्य कई स्थानों पर चौंका देता है. 'मनहूस' कहानी की विषयवस्तु बेशक घिसी-पिटी है, लेकिन क़दम-दर-क़दम अंधविश्वास के ख़िलाफ़ जिस तरह से यह कहानी 'बिल्डअप' (स्थापित) होती है, वह क़ाबिले तारीफ़ है. इसी तरह 'लेडी लॉलीपॉप' तकनीकी पृष्ठभूमि पर रचित एक लंबी भावनात्मक कहानी है. लेखक ने लंदन के बिजलीघर में ली गयी ट्रेनिंग के अनुभव को अलग-अलग आयाम में प्रस्तुत किया है. ऐसा लगता है जैसे कहानी के पात्र पाठक के साथ कविता की शक्ल में संवाद कर रहे हों. संग्रह की लगभग सभी कहानियां कहीं न कहीं आम आदमी, समाज और देश की मौजूदा हालात से सरोकार रखती हैं. लगता है जैसे हमारे आस-पास के पात्रों को उठकर कहानियों में फिट कर दिया गया हो. संग्रह की सबसे छोटी कहानी 'झांकी' अमीर और ग़रीब के बीच बढ़ती खाई का एक नमूना है. एक मामूली सा क्लर्क अपने जीवन भर की कमाई से जोड़े गये गृहस्थी के सामान को सबसे सुंदर झांकी के रूप में देखता है, लेकिन एक अमीर आदमी के सामान की तुलना में उसे अपनी झांकी एक अल्शेशियन कुत्ते के सामने गली के आम कुत्ते की तरह लगती है. हालात जाने-पहचाने हैं, लेकिन हर कहानी नयी विषयवस्तु के साथ सामने आती है.

संग्रह की अधिकांश कहानियों में शिल्प गौड़ है, लेकिन शिल्प से अधिक कहानियों को नये अंदाज़ में पेश करने का साहस सराहनीय है. 'नोटिस' उसी साहस की एक मिसाल है. कहानी की नायिका जीवन के अंतरंग सोच को बाहरी आवरण देकर शब्दों में व्यक्त किये बिना ही सशक्त रूप में सामने आती है. ऐसी कहानियां हिंदी साहित्य की भाषाई वर्जनाओं का उल्लंघन करके कथा साहित्य को नया आयाम देती हैं. 'इस्तेमाल' इसी क्रम की एक बोल्ड कहानी है, जिसमें पति अपने प्रोफेशन में उन्नति पाने के लिए अपनी ही पत्नी को होटल के कमरे में क्लाइंट के साथ अकेला छोड़ देता है. पत्नी को भी आज के युग में यह सब प्रोफेशन का हिस्सा ही लगता है. इस्तेमाल होना और इस्तेमाल करना शायद आज के मशीनी युग की सच्चाई है. 'गोल' के किरदार मध्यमवर्गीय कुंठओं और विवशताओं से घिरे हुए हैं. किसी भी खेल का गोलकीपर चाहे कितना भी मुस्तैद हो, गोल खाना उसकी नियति है. संग्रह की अंतिम कहानी 'मोक्ष' कथालेखन के परंपरागत ढांचे को तोड़कर महज औपचारिक वार्तालाप के रूप में आगे बढ़ती है. वार्तालाप के दौरान ही पात्रों का आंतरिक चरित्र खुलता चला जाता है और कुल मिलाकर एक बात सामने आती है कि कोई अपने वर्तमान से मुक्ति चाहता है, जबकि सच यही है कि वर्तमान को भुगते बिना मोक्ष असंभव है.

कुछ कहानियों के विषय में दुहराव होने के बावजूद उन्हें प्रस्तुत करने का अंदाज़ निराला है. संग्रह की सभी कहानियां किसी न किसी पत्रिका में पहले प्रकाशित हो चुकी हैं, इसलिए इनके क्रम में बदलाव करके कहानियों की रोचकता को और बढ़ाया जा सकता था. हालांकि इतने बड़े कथा-संग्रह के लिए कुछ कहानियों के विषय के दुहराव का प्रभाव नगण्य ही माना जायेगा. कुल मिलाकर लेखक कथाशिल्प के झमेले में न पड़कर समाज की सच्चाइयों को सीधे-सपाट तरीक़े से सामने लाने में पूरी तरह से सफल हुए हैं.

सी-६५, एन. टी. पी. सी., पो. विद्युतनगर,
ग़ाज़ियाबाद (उ. प्र.) २०१ ००८.

'सहज संवेदनाओं से भरी-पूरी एक श्रेष्ठ पारिवारिक कथा-कृति'

✍ डॉ. भगीरथ बड़ोले

'और झरना बह निकला' (कहानी संग्रह) : **डॉ. निरुपमा राय**
प्रकाशक : रचनाकार प्रकाशन, गुरुद्वारा मार्ग, पूर्णिया-८५४३०१.
मूल्य - ८०/- रू.

'और झरना बह निकला' डॉ. निरुपमा राय का प्रकाशित प्रथम कहानी संग्रह है. कविता, कहानी, शोध आलेख और समीक्षाओं में समान रूप से रचनारत सुश्री राय ने प्रस्तुत कहानी संग्रह के माध्यम से नारी-जीवन की उन अनकही व्यथा-गाथाओं को मुखर करने का सार्थक एवं सफल प्रयास किया है, जिनका वर्तमान परिवेश में प्रत्येक नारी को सामना करना पड़ता है. व्यथाओं और विसंगतियों के साक्षात्कार के इस क्रम में कहीं वे टूट जाती हैं तो कहीं साहस से जूझती हुई अपनी अस्मिता को भी प्रमाणित करती हैं. दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि इस संग्रह द्वारा कथा लेखिका ने नारी के व्यक्तित्व को यथार्थ परिवेश में जो रूपाकार प्रदान किया है, वह संपूर्ण समाज को पुनर्चिंतन के लिए विवश करता है. आखिरकार नारी भी मानवी है और इसीलिए उसके अधिकार भी किसी पुरुष के अधिकारों से कम नहीं हैं. लेखिका का आग्रह है कि इस पर समाज को नये सिरे से सोचना चाहिए और अपने व्यवस्था-विधान को वदलना चाहिए. पूरी तरह भावुक संवेदना में रची-पची ये कहानियां इसी क्रम में नारी की स्वायत्त चेतना के नये मूल्यों को न्यायसंगत दृष्टि से एक समर्थ अभिव्यंजना प्रदान करती हैं. अतः मानवीय न्याय की प्रत्याशा में प्रस्तुत यह ईमानदार रचनाधर्मी पहल निश्चित ही लेखिका के दायित्व वोध को प्रमाणित करती है.

प्रस्तुत कथा कृति का शीर्षक 'और झरना वह निकला' अत्यंत उपयुक्त कहा जायेगा. यह झरना वस्तुतः अंतःसलिला प्रेम-सरित का अनवरुद्ध प्रवाह है जो प्रत्येक मनुष्य के मन में स्थित है और जिसकी प्रत्येक को आवश्यकता है. इस संग्रह में इसी शीर्षक के अंतर्गत एक कहानी प्रस्तुत हुई है, जिसका नायक रामेश्वरदयाल अपने कठोर व्यवहार से सवको त्रस्त वनाये हुए है. वावजूद इसके उसकी पत्नी प्रियंवदा का विश्वास है कि समय और स्थितियां ही उसके अंतस के प्रेम प्रवाह को रोके हुए हैं. जव वे नहीं रहेंगी, तव अपने अकेलेपन को जीता यह मनुष्य पूरे परिवार को अपने प्रेम का अमृतमय स्पर्श करायेगा और कहानी में घटित भी यही होता है. किंतु यह स्थिति मात्र इसी कहानी में सामने नहीं आती, अन्य वारह कहानियों में भी वरावर झलकती है, जहां नारी को अपने व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा हेतु अनवरत संघर्षरत होना पड़ता है. पर अंततः वह अपने अंतर्मन में सारी पीड़ा दवाकर भी अपने प्रेम प्रवाह को नैरंतर्य प्रदान करने में समर्थ सिद्ध होती है और अपने साथ-साथ जग जीवन को भी परिशुद्ध करने में सफलता पाती है. ये सभी कहानियां नारी जीवन की विडंवनाओं को केंद्र में रखकर उसी जीवन के इर्द-गिर्द घूमी हैं और लेखिका की हर जगह यही कोशिश रही है कि समाज पूरी सहृदयता से उस जीवन की विडंवनाओं और दर्द का अनुभव कर सके.

'डायरी' शीर्षक कहानी का रमेश भी जव पत्नी इंदिरा की मौत के वाद उसके उस जीवन से परिचित होता है, जहां पल-पल इंदिरा ने अपमान और पीड़ा सही है तो स्नेह की भूखी आहत इंदिरा के प्रति किये गये अपने व्यवहार पर वह पश्चाताप करता है. यही स्थिति 'मुट्ठी भर रेत' में भी वनी है, जिसकी नायिका कैंसर पीड़ित सरोज सारी पीड़ा अकेले इसलिए सहती है, ताकि उसके परिवार को कोई मानसिक कष्ट नहीं पहुंचे. वह जानती है कि वह वचेगी नहीं, किंतु वह अंतिम श्वास तक जीवन को पूरी तरह जी लेना चाहती है, शेखर चाचा की तरह हर पल मौत का अहसास नहीं करना चाहती. परिवार के प्रति उसका ऐसा लगाव और दृष्टि सहनशीला नारी का मूल स्वभाव या मौलिक विशेषता कही जायेगी, जो पुरुषों में उपलब्ध नहीं. 'मां का खत मां के नाम' की सुमन भी अंत में मां वनने पर ही मातृत्व, स्वरूप और उसकी पीड़ाओं को पहचान सकी. अपनी मां के ममत्व के प्रति 'यादें' की मनोरमा भी एक आदर्श पात्रा है. मां की मौत के वाद उसे सोने चांदी से उतना मोह नहीं रहता, जितना मां की वनाई उन चीज़ों से है, जिनका सुखद स्पर्श उस सामीप्य के अहसास को जगाये रखता है. 'सज़ा-मुक्त' की सरिता भी विवाह के वाद पति के दुराग्रह का शिकार होकर अपने मायके नहीं जाती, पर पति की मौत के वाद अपनी मां से लिपटकर उसे स्पष्ट अनुभव होता है कि चाहे अवसाद शेष हों, पर वे सज़ा मुक्त हो गयी हैं.

इस संग्रह की कुछ कहानियां ऐसी भी हैं, जहां नारी का विद्रोही रूप प्रत्यक्ष होता है. आख़िर कव तक और क्यों वह निर्दोष होते हुए भी व्यक्ति तथा समाज के अत्याचारों को सहे ? इस क्रम की कहानियों में 'आजीवन कारावास' एक ऐसी कहानी है जिसकी नायिका विपाशा अपने प्रति किये गये अन्याय के विरुद्ध न्यायालय की शरण में जाकर वलात्कारियों को सज़ा दिलाने का अनुकरणीय साहस प्रदर्शित करती है. उसके इस साहसिक अभियान से प्रभावित होकर डॉक्टर विनय विना समाज की परवाह किये उसे पुनः स्वीकार कर लेता है और एक प्रकार से ये दोनों सामाजिक मान्यताओं में वदलाव का श्रीगणेश करते हैं. इसी चेतना को स्वीकार कर 'आख़िरी सवाल' की नायिका मानसी अपने पति प्रभात को अंततः छोड़ देती है जिसने शादी

के बाद पंद्रह साल तक उसे परित्यक्ता बनाकर रखा. सारी विवशताओं से परे दोषी पुरुष को सज़ा देने का ऐसा साहस सिद्ध करता है कि अब नारी की परंपरागत दृष्टि में नये परिवर्तन प्रभावी हो रहे हैं. शराबी पिता और ख़रीददार पति से मिले ऐसे ही अमानुषिक अत्याचारों के विरोध में 'दीवारों के उस पार' की निर्मला भी अब निर्मला नहीं, तुलसी बनकर ही दीन दुखियों की सेवा में संलग्न होना चाहती है. 'खामोशियां बोलती हैं' की नायिका अपूर्वा भी पति की निरंतर उपेक्षा के बाद अपनी अस्मिता और स्वतंत्र सत्ता को प्रमाणित करते हुए सबसे आग्रह करती है कि यह दकियानूस समाज नारी की शक्ति को पहचाने और उसकी क्षमताओं को बेरोकटोक ज़ाहिर होने दे.

निःस्वार्थ भाव से रिश्तों को महत्त्व देने वाली 'अंतिम इच्छा' की विमला भी जब देखती है कि उसके भाई-बंधु उसके परिवार को निरंतर अपमानित कर रहे हैं और स्वार्थ तथा अहं वश मधुर-रिश्तों में दरारें बढ़ा रहे हैं तो वह अपनी बेटी से स्पष्ट कह देती है कि जीते जी रिश्तों का अपमान करने वाले ये लोग उसके मरने पर उसके मुख को नहीं देखने पायें. यह स्थिति भी नारी की संघर्ष चेतना को प्रतिपादित करती है, ताकि दोषी को यथोचित दंड मिले. संघर्ष चेतना की इसी भूमि पर 'बाधाग्रस्त' की नायिका सरोज का व्यक्तित्व भी टिका है. विवाह के बाद निर्दोष होते हुए भी जब उसे अनचाही असह्य स्थितियों का सामना करना पड़ता है, प्रताड़ित होना पड़ता है, तो मानसिक रूप से वह असंतुलित हो जाती है, किंतु अंततः अपनी अदम्य इच्छा शक्ति के बूते वह न सिर्फ़ इन स्थितियों का सामना करती है अपितु स्वस्थ होकर अपने पांवों पर खड़े होते हुए समाज को सीख देती है कि वह पहले अपने सिर से दहेज का भूत उतारे, तभी दूसरे को दोषी कहे. इन सब कहानियों से भिन्न 'संबोधन' की मां का चरित्र वैभव के अभाव में कुंठग्रस्त हो जाता है, किंतु अपने परिवार जनों के सेवाभाव से वह पुनः पूर्व सी स्वस्थ और व्यवस्थित हो जाती है.

इन सभी कहानियों को पढ़ने पर यही स्पष्ट होता है कि नारी प्रेम और सहानुभूति की भूखी है, किंतु पुरुष के भ्रम पूर्ण अहं तथा समाज में प्रचलित खोखली मान्यताओं ने उसके मानवी रूप पर प्रबल प्रहार किये हैं और उसके जीवन को विडंबनाओं से ग्रस्त कर दिया है. लेखिका चाहती है कि समाज और विशेषकर पुरुष-वर्ग अपने दकियानूसी आचरण को बदले, ताकि सबका जीवन सुखी हो सके. कथा-लेखिका ने प्रायः हर कहीं अपने चरित्रों के साथ न्याय किया है तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सच्चाइयों का सही-सही बयान प्रस्तुत कर दुखी अबला नारी को न्याय दिलाने के पक्ष में अपनी संघर्षयात्रा प्रारंभ की है. उसका ध्यान अपने इसी उद्देश्य के प्रति पर्याप्त सजग रहा है. तमाम विपरीत स्थितियों के बीच नारी की दारुण दशा को मूर्त करने वाली सभी घटनाओं का संयोजन सहज है तथा यथार्थ की सीमाओं के अंतर्गत है. इन घटनाओं के संयोजन में न तो कहीं अस्वाभाविकता आने पायी, न कहीं ऊब अनुभव होती है. इनका सारा विधान पूरे जीवंत वातावरण में इस प्रकार रूपायित हुआ है कि वेदना को अधिकाधिक विस्तार और गहराई मिल सके तथा वह स्थिति पाठक के मन-मस्तिष्क पर गहरा असर डाल सके. प्रायः हर कहीं एक भावुक संवेदना ही मुखर होती है और भावुक संवेदना से भरी ये पारिवारिक कोटि की कहानियां परंपरागत सामाजिक विधान को चुनौती देती हुई नारी चेतना के नये आयामों को प्रतिष्ठित करने की ओर अग्रसर हैं.

कथातत्त्व के अंतर्गत घटनाओं की संयोजना में लेखिका ने उत्सुकता और रोचकता बनाये रखने की पूरी-पूरी कोशिश की है. इसके लिए उसने पूर्व दीप्ति (फ्लैशबैक) पद्धति का भरपूर प्रयोग प्रत्येक कहानी में किया है. वस्तुतः यह पद्धति इन कहानियों की प्रभावी प्रस्तुति में अत्यंत कारगर रही. इसी के साथ तमाम स्थितियों के बीच लेखिका ने सर्वत्र ही आदर्श सूक्तियों का सहज समावेश भी किया है, जो जीवन के दर्शन को तो मूर्त करती ही हैं, लेखिका के उपदेशक बाने को भी सहजता से ढंक लेती हैं. सभी कहानियां घटनाओं से भरी-पूरी हैं, जो बताती हैं कि जीवन की बारीकियों का अंकन करने में लेखिका कितनी दक्ष है. पारिवारिक जीवन की छोटी से छोटी बात भी उसके दृष्टिपथ से ओझल नहीं होती. कहानियों की भाषा सहज, सरल और संप्रेषणीय है. उसमें आंतरिक संगति और एक प्रवाह है जो प्रभावान्विति को निरंतर अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा पाठकों को सही चिंतन के दायरे में ले जाने में सक्षम है. तात्पर्य यह कि प्रत्येक दृष्टि से ये कहानियां अपनी समर्थता को ही नहीं, सार्थकता को भी प्रमाणित करती हैं. इसी के साथ एक नारी होने के कारण प्रत्येक कहानी में लेखिका की सहानुभूतिपूर्ण आत्मीयता भी साफ़ झलकती है, जिससे यह कथासंग्रह 'और झरना वह निकला' श्रेष्ठ बन सका है. विश्वास है कि भविष्य में लेखिका डॉ. निरुपमा राय अपने श्रेष्ठ लेखन द्वारा जीवन के तमाम रहस्य-पटों को अनावृत्त कर मनुष्य को जीने की चेतना प्रदान करती रहेंगी और जीवन के सत्य का सतत साक्षात्कार कराती रहेंगी. अस्तु, अभी इस कठिन समय में ऐसी महत्वपूर्ण कथा-कृति के प्रकाशन पर उसे सम्मानित करना हर दृष्टि से समीचीन होगा.

२८६, विवेकानंद कॉलोनी, फ्री गंज,
उज्जैन (म. प्र.) ४५६ ०१०

सपना खुश आदमी का

राजकुमार जैन 'राजन'

इन दिनों मेरी आंखों में
एक अजनबी समय का सपना लहराता है.

अक्षय आलोक बूंद
जहां कहीं गिरती है
धरती पर एक फूल खिलता है
बस इसी तरह
प्रलय के बाद नव निर्माण होता है.

मिट गये हैं सब 'मैं' और 'तू' के भेद
चुपचाप बदल गया मौसम
सबके चेहरों से बरस रहा है नूर
एक हार में सब गुथे हुए हैं फूल.

सूर्य खोल रहा है
हर एक बंद दरवाज़ा
बस, एक मुट्ठी रोशनी समेट
मैंने अंजुरी में भर ली,
इन दिनों मेरी आंखों में
एक अजनबी समय का सपना लहराता है
एक ख़ुश आदमी की ज़िंदगी का.

नहीं देखा समुद्र

नहीं देखा मैंने समुद्र
लेकिन महसूस करता हूं
उसकी गर्जन अपने भीतर.

छूता है जब कोई मोती
मेरे मन के चेहरे को
लहरें उठ कर फेंक देती हैं
कुछ अस्फुट फेनिल झाग
सीपियां खुल कर बिखर जाती हैं
और सारे संदर्भ
मुझे अर्थ पूर्ण उपलब्धियों के साथ
जोड़ जाते हैं.

कैसा लगता है
तूफ़ान के बाद ख़ामोश समुद्र
जो आत्मा पहले निस्वर बोल चुकी होती है
हमारी हथेलियों में
कर्म की निश्चित संभावनाएं
उसकी पूर्ति हमारी आवश्यकता को
प्रमाणित करती है,
नहीं देखा समुद्र कभी
फिर भी महसूस करता हूं
उसे अपने भीतर बजता हुआ.

चित्रा प्रकाशन, आकोला, चितौड़गढ़ (राज.) ३१२२०५.

विधि की विडंबना

श्रीमती प्रतिभा पुरोहित

जीवन की विद्रूपताओं से
भागा नहीं जा सकता
उन्हें झेलना पड़ता है
और
कठिनाइयों से जूझना पड़ता है.
हादसे, प्राकृतिक आपदाएं
जब घेर लेती हैं
तब विनाश के कहर
एक दो नहीं
अनगिनत जानें लेते हैं
कितने ही घर बरबाद हो जाते हैं
बनाने में कई दिन-दिवस
साल लग जाते हैं
और नष्ट एक ही झटके में
हो जाते हैं.
इन आपदाओं से,
विधि की विडंबनाओं से
साक्षात्कार कब हो जाये
नही पता,
कुछ नहीं पता !

१० गोकुळ धाम, कलोल हाइवे, चांदखेड़ा,
अहमदाबाद (गुजरात)

गज़लें

✍ वेद हिमांशु

(१)

अकेले आप भी क्यों झिझक रहे हैं,
कहिए भी कुछ सभी तो बहक रहे हैं.
यों तो हम बर्फ़ हैं, बतायें क्या दास्तां अपनी,
कितने अंगारे हमारे दिल में भी धधक रहे हैं.
माहौल की मांग है हमें मुआफ़ कीजिए,
पांव में है मोच लेकिन थिरक रहे हैं.
गवाही दी हमारे ख़िलाफ़ उन्हीं आंखों ने,
जिनकी हम कभी पलक रहे हैं.
आस्था के आकाश पर घिर आया अंधकार,
सांसों की गौरैया के पंख थक रहे हैं.

(२)

कहीं उथला कहीं गहरा है मेरा शहर,
उफ़ ! कितना गूंगा कितना बहरा है मेरा शहर.
आतें सूखकर भीतर कांटा हो गयीं लेकिन,
ऊपर से कितना हरा भरा है मेरा शहर.
हड्डियों के बीच ख़ून की तलाश है बेमतलब,
दर हक़ीक़त कितना मरा मरा है मेरा शहर.
सांस रुक जायेगी रोटी की धौंस मत दीजिए,
चेहरा तो देखिए कितना डरा डरा है मेरा शहर.

✉ डी-१५, विद्युत नगर (लालघाटी)
शाजापुर (म.प्र.) - ४६५ ००१

✍ राजेंद्र वर्मा

मेरे सपनों में अक्सर-ही आ जाता है 'ताजमहल',
मेरे कटे हुए हाथों को दिखलाता है 'ताजमहल',
मैंने कठिन तपस्या करके एक स्वप्न साकार किया,
मेरे कलाकार को दोषी ठहराता है 'ताजमहल',
पिटा ढिंढोरा, लुटा खज़ाना, शहंशाह ने इश्क़ किया,
एक इश्क़ है जो हर दिल में बनवाता है 'ताजमहल',
किसे नहीं मालूम, इश्क़ है सोने-चांदी से बढ़कर,
फिर भी सोने-चांदी के ही गुन गाता है 'ताजमहल',
दौलत की मुट्ठी में हैं 'राजेंद्र' चांदनी रातें भी,
सुना कि पूनम में ज़्यादा ही इठलाता है 'ताजमहल'.

✉ ३/२९, विकास नगर, लखनऊ-२२६ ०२२

✍ भगवानदास जैन

(१)

अगर फ़ितरत है आंधी की दिये जलते बुझाने की,
तो ज़िद अपनी है ख़ूने दिल से फिर उनको जलाने की
गिरा कर बर्क़ मेरा घर मिटा दे आसमां चाहे,
जगह हम ढूंढ ही लेंगे ज़मीं पर सर छिपाने की.
तुम्हें शिकवे अगर रहते हैं अक्सर ज़िंदगानी से,
तो फूलों से अदा सीखो ख़िज़ां में मुस्कुराने की.
तबाही की उन्हें क्या धमकियां देता है तू ज़ालिम,
जिन्हें दहशत न खोने की, न कुछ हसरत है पाने की.
जो चेहरा नोचने और संगसारी पर हों आमादा,
ग़रज़ क्या ऐसे नादानों को है, शीशा दिखाने की.
यक़ीं आता नहीं अब तो हमें इस पर किसी सूरत,
बड़ी बदकारियां देखी हैं हमने इस ज़माने की.
क़फ़स में क़ैद कबसे जो परिंदे छटपटाते हैं,
इजाज़त दे उन्हें सय्याद अब तो चहचहाने की.
कहीं मैं हद से गुज़रा तो बहुत पछताओगे हमदम,
कभी जुर्रत न करना अज़्म मेरा आज़माने की.
है मुट्ठीभर हमारा दिल मगर है ये दिले शाइर,
है इसमें ताब दुनियाभर के सारे ग़म समाने की.

(२)

यूं अजूबे की तरह मेरा नज़ारा मत कर,
मेरे ज़ख़्मों को सरे आम तमाशा मत कर.
रौशनी कुछ तो अंधेरों में बिखर जाने दे,
क़ैद कमरों में मेरे दोस्त उजाला मत कर.
आग जलती है तो जलने दे मगर नाहक़ यूं,
उसको अश्कों से बुझाकर तू धुआं-सा मत कर.
मैं तजर्बे की बिना पर तुझे समझाता हूं,
अब सफ़र में किसी रहबर पे भरोसा मत कर.
राह में जिससे लगे एक भी ठोकर तुझको,
भूल ऐसी कोई ऐ दोस्त दुबारा मत कर.
क़ुव्वते बाज़ू अगर है तो समंदर में उतर,
नाख़ुदाओं के हवाले तू सफ़ीना मत कर.
ख़्वाब तो ख़्वाब हैं चल उनसे बचाकर दामन,
पर हक़ीक़त से यूं घबरा के किनारा मत कर.

✉ बी/१०५, मंगलतीर्थ पार्क, कैनाल के पास,
जशोदा नगर रोड, मणीनगर (पूर्व), अहमदाबाद ३८२४४५

लेटर बॉक्स

❋ "कथाबिंब" अप्रैल-जून २००५ का ख़ूबसूरत अंक फ़िरदौसे नज़र बना हुआ है. आपकी मसायीए-जमीला और अथक जद्दोजहद से पत्रिका ख़ूब से ख़ूबतर होती जा रही है.

'कुछ कही, कुछ अनकही' संपादकीय के माध्यम से आपने अच्छी, सच्ची और ख़ुदा लगती बातें कही हैं. यक़ीनन संपादकीय ग़ौरो फ़िक्र की दावत देता है. सुनामी, कैटरीना, जानलेवा, बेइन्तेहा बारिश, हलाकत ख़ेज़ ज़लज़ला, ये सभी ईश्वरीय अज़ाब और क़हर हैं, जिन्हें बहरहाल तस्लीम करना ही होगा. क़ुरआन में है - 'तुम कहां तक फ़रार अख़्तियार करोगे जब अल्लाह तुम्हारी गिरिफ़्त करना चाहेगा.' क़ुरआन, इंजील, तौरेत और ज़बूर में क़ौमे आदो-समूद की तबाहियों के तज़किरे भी मौजूद हैं. ईश्वर ने अपना बाग़ी होने के सबब ही उन्हें सज़ाएं दी थीं. दुनिया के 'सुपर पॉवर' और नाम-निहाद कल्चर्ड मुल्क ने मुट्ठी भर आतंकवादियों को ठिकाने लगाने के नाम पर अफ़ग़ानिस्तान की सरज़मीन को ख़ून का दरिया बना दिया. लाशों की क़तारें बिछा दीं. नतीजतन अफ़ग़ानिस्तान आज भी शादाबी और ख़ुशहाली के लिए तरस रहा है. ईराक़ को उसी 'सुपर पॉवर' ने महाविनाशकारी अस्त्रों को तलाश करने की आड़ में दूसरा कर्बला बना दिया ! लेकिन यह भी हक़ीक़त है कि सद्दाम हुसैन भी दूध में धुले हुए नहीं हैं. यह ईश्वरीय नियम है कि एक ज़ालिम को मिटाने के लिए दूसरा ज़ालिम उस पर मुसल्लत कर दिया जाता है, फिर उस दूसरे ज़ालिम को भी नेस्तो-नाबूद करने के लिए दीगर सबील पैदा कर दी जाती है. बहरहाल, आतंकवाद, दहशतगर्दी कोई भी मचाये, किसी क़ौम, मज़हब और क़बीले की जानिब से इसकी तहरीक चलाई जाये, क़ाबिले मज़म्मत एवं निंदनीय है ! ख़्वाह किसी भी बहाने से !! बेक़सूर इंसानों को ख़ून में नहलाना, मुल्कों और उनके मालो-असबाब की बर्बादी-ब-ज़ियांकारी किसी भी धर्म की तालीम नहीं है.

शक्ति भी शांति भी भक्तों के गीत में है।
धरती के वासियों की मुक्ति प्रीत में है ॥

क़ुरआन में है - "अल्लाह अहसान करने वालों से मुहब्बत रखता है।" "ज़मीन पर फ़साद बरपा मत करो."

क़ुरआन में तशद्दुद (अत्याचार) से मना करने के पहलू-ब-पहलू जवाबी तशद्दुद से भी निम्नांकित आयत में रोका गया है - "और ऐ नबी ! नेकी और बदी (बुराई) यक्सां (समान) नहीं है. तुम बदी को नेकी से दफ़ा (समाप्त) करो जो बेहतरीन हो. तुम देखोगे कि तुम्हारे साथ जिसकी अदावत (शत्रुता) बढ़ी हुई थी वह जिगरी दोस्त बन गया है."

एक बार पुनः आपके रौशनतर और बेबाक संपादकीय के लिए आपको मुबारकबाद ! बिलाशक आपके सितारा मिसाल हर्फ़ों के बहाने ही मुझे कुछ इज़हारे ख़्याल पेश करने का मौक़ा मिला.

'चेहरे' क़ौमी यकजहती पर केंद्रित एक लाज़वाल और सदा याद रखी जाने वाली कहानी है. दरअस्ल आज ऐसी कहानियां और रचनाएं ही इंसानों को क़रीब लाने में मददगार हो सकती हैं. 'अशरफ़' (बुज़ुर्ग, बहुत शरीफ़) ने अपने नाम को सार्थक करते हुए अपना किरदार भी पेश किया है. अगर हक़ीक़त की नज़रों से देखा जाये तो लाखों 'अशरफ़' भारत में मिल जायेंगे. 'मिश्रा' जैसे हैवान और दरिंदा सिफ़त लोग चेहरे पर चेहरा लगाये पुलिस और प्रशासन में मौजूद रहकर समाज, देश और अपने संप्रदाय की तस्वीरें ख़राब करने में मशग़ूल हैं. इस कहानी की 'विभा' (मैडम जी) ने 'अशरफ़' (मुसलमान) और 'मिश्रा' (हिंदू) की तुलना की होगी तो यक़ीनन उसने अपने मन में फैसला किया होगा कि 'अशरफ़' (मुसलमान) बुरा नहीं होता. जनाब पवन शर्मा, इस क़दर जानदार-शानदार कहानी की तख़्लीक़ के लिए मुबारकबाद के मुस्तहिक़ हैं. मुबारक !

बेख़ता लोगों को भी अक्सर सज़ाएं मिलती हैं, समाज या पुलिस-प्रशासन के ज़रिये ! कहानी 'आतंकवादी' में जनाब जीवतराम सेतपाल ने इस सच्चाई को साबित कर दिया है. मौसूफ़ की कहानी शिल्प-कथ्य दोनों दृष्टि से क़ाबिले तारीफ़ है. यह कहानी शुरू से आख़िर तक मुकालमों (संवादों) के छोटे-छोटे जुमलों के ज़रिये आगे बढ़ती है. कहानी दर्स देती है कि सच्चे को होशियार रहना चाहिए. कहानी - 'बिके हुए हाथ' में भारतीय मुसलमानों को देशभक्ति से जोड़कर देखा गया है. कहानी में यह हक़ीक़त बयानी भी अच्छी लगी कि सरहद पर मुहाजरीन को अब भी पाकिस्तानी बाशिंदा नहीं समझा जाता और उन पर ज़ुल्मों सितम भी किया जाता है. मुहाजरीन के तअल्लुक़ से मेरे ही दो अशआर -

'क्या तड़ाको उस पार मिला है.
ज़ख़्मे हिजरत अब भी हरा है.'
'कलमागो ही कलमागो को झोंकते हैं आग में.
इन दिनों अर्ज़े कराची, अर्ज़े ढाका हो गया.'

डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी जी की उर्दू फ़ज़ा में ढली हुई उपरोक्त कहानी मजमूई एतबार से अच्छी लगी. बधाई. मजबूरी, ग़ुर्बत, सितारे तोड़ने की चाहत और ख़ुशहाल ज़िंदगी जीने की ललक में न जाने कितने लोग मौत की छलांग लगा चुके हैं और लगाते रहेंगे. कहानी - 'मौत की छलांग' (मनोज सिन्हा) तादैर, दिलो दिमाग़ को झकझोरती रहने वाली, ज़बान-बयान और शिल्प के एतबार से लाइक़े तौसीफ़ है. मुबारकबाद !

आज की युवा पीढ़ी की सोच में जो परिवर्तन हुआ है, वह पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की देन है. कहानी- 'स्वेटर' में बेटे का दानिस्ता तौर पर पुराना स्वेटर छोड़ देना इस हक़ीक़त की तरफ़ इशारा करता है कि भविष्य की नौजवान नस्ल अपनी भारतीय सभ्यता और संस्कृति को नज़र अंदाज़ करते हुए अपने बुज़ुर्गों को भूल जायेगी. वह अपने मां-बाप के प्यार भरे जज़्बों को समझने से

से क़ासिर रहेगी क्योंकि इक्कीसवीं सदी (जारी और आइंदा वर्षों में) की नस्ल तो इलेक्ट्रॉनिक मीडियावाली सोच रखेगी और ज़ाहिर है, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के पास 'मन' नाम की कोई चीज़ नहीं होती. जनाब विमल पांडेय की उपरोक्त कहानी आज की युवा पीढ़ी की सोच की बेहतरीन तर्जुमान है. कहानीकार को बधाई ! लघुकथाएं, सागर-सीपी, आमने-सामने, समीक्षाएं स्तरीय एवं पठनीय हैं.

जनाब केशव शरण, 'उपेंद्र' और 'साहिल' की ग़ज़लें पसंदीदा हैं. वर्तमान हालात की तस्वीरकशी करता हुआ केशव जी का यह शेर ख़ासे की चीज़ है -

'महाभारत के अनुभव जी रहा जो.
कहां से रास का वर्णन करेगा.'

मुहतरमा सीमा पांडेय 'ख़ुशी' की 'खिड़कियां' मुख़्तसर होने के बावजूद एक जहाने मानी समेटे हुए हैं. औरत के हक़ में बोलती हुई यह कविता ख़ूब है. श्री 'प्रेम,' हृदयेश भारद्वाज, रीता राम और 'उदय' जी की पद्य रचनाएं मुतअस्सिर करती हैं. जनाब नमित सक्सेना ने आवरण की बेहद ख़ूबसूरत तस्वीर बनायी है.

डॉ. नसीम अख़्तर

जे. २६/२०५, मतलउल-उलूम, कमलगढ़ा, वाराणसी-२२१ ००१

"कथाबिंब" अप्रैल-जून ०५ मिला. सारा पढ़ा. बहुत बढ़िया लगा. निरूपमा राय और रोहित श्याम की कहानियां विशेष रूप से पठनीय हैं. हिंदुस्तान में भी विभाजन के बाद आबादियों की अदला बदली हुई थी और हिंदू शरणार्थी बन यहां आये थे तब सालों तक यहां के लोग उन्हें पाकिस्तानी पुकारते रहे थे लेकिन बाद में धीरे-धीरे ये इनके साथ इतने घुल-मिल गये कि आज इनकी अलग पहचान कर पाना मुमकिन नहीं रहा है. पर पाकिस्तान मुहाजिरों की उपस्थिति को पचा नहीं पा रहा है. यही दोनों देशों की संस्कृतियों का अंतर है. हर अंक में कुछ अच्छी कहानियां और संपादकीय में नये विचार देना इस पत्रिका की विशेषता है. आशा है, यह सिलसिला आगे भी बना रहेगा.

सुरेश पंडित

३८३, स्कीम नं. २, लाजपत नगर, अलवर-३०१ ००१.

"कथाबिंब" के अंक समय-समय पर मिलते रहे हैं. साहित्यिक पत्रिकाएं ख़रामा ख़रामा चलते रजत जयंती मना सकने की स्थिति में आ जायें, यह साधारण घटना नहीं है. सचमुच एक जीवट भरी यात्रा है यह . . .इस हेतु मेरी हार्दिक बधाई स्वीकारें.

'आमने-सामने' स्तंभ में साहित्यकारों की अपनी चीर-फाड़ कौतुकपूर्ण लगती है. 'सागर-सीपी' भी सशक्त स्तंभ है. जनवरी-मार्च ०५ अंक में सलाम बिन रज़ाक़ की कहानी 'कोहरा' नारी के अंतर्द्वंद्व की सशक्त कहानी है.

"कथाबिंब" यूं ही स्तरीय रचना सामग्री के समय निकलती रहे इसके लिए शुभकामनाएं.

कमला चमोला

२५४, सेक्टर १५ए, हिसार (हरियाणा).

"कथाबिंब" का अप्रैल-जून ०५ अंक देखने-पढ़ने का अवसर प्रदान करने के लिए धन्यवाद ! "कथाबिंब" ने हमेशा नये रचनाकारों को मंच देकर उनकी सृजन-क्षमता को तराशने का अवसर दिया है. जो पाठक यह आरोप लगाते हैं कि "कथाबिंब" के लेखक बंधे-बंधाये हैं, वे शायद पत्रिका नियमित पढ़ते नहीं हैं. मेरा यह मानना है कि, ऐसे मुद्दों पर आपको अपनी ओर से स्पष्टीकरण देना ही नहीं चाहिए.

रोहित श्याम चतुर्वेदी 'शलभ' की 'बिके हुए हाथ' कहानी कथ्य की नवीनता, गहन, शिल्प - हर दृष्टि से बेहतरीन है. विषय-वस्तु ईमानदारी के साथ हक़ीक़त को बयान करते हुए मुहाजिरों की सामाजिक-स्थिति तथा मानसिकता को उजागर करती है. कहानी में चित्रित शायद वह तंग-माहौल ही है जिसकी वजह से हिंदुस्तान से गये मुसलमानों तथा वहां रुक गये सिंधियों को यह वतन आकर्षित करता है. इसी प्रकार 'मौत की छलांग' अछूते विषय को अपने अलग ही अंदाज़ में प्रस्तुत प्रभावक रचना है. यह शाहिद ही नहीं रोटी-रोज़ी के लिए 'मौत की छलांग' लगाते हर आम आदमी की ज़ुबान को भाषा देती कहानी है.

उपन्यास, कहानी से हटकर विजय जी इन दिनों लघुकथाएं लिख कर यह साबित कर रहे हैं कि लंबी रचनाएं लिखने में निरंतर लिप्त रहने के बावजूद मानक लघुकथाएं - 'भाई' तथा 'इंसाफ़' के रूप में, किस प्रभावक-क्षमता के साथ लिखी जा सकती हैं. 'क्रम-सूची' में सम्मिलित नहीं हो पायी सीमा पांडे की 'खिड़कियां' शीर्षक छोटी-सी कथा, बहुत कुछ कहने वाली रचना है.

रीता-राम की 'दृष्टि पटल' कविता भी सामान्य विषय को सलीके से शब्द देकर ध्यानाकर्षित करती है. साहिल तथा नसीम अख़्तर की ग़ज़लें बार-बार पढ़ने की इच्छा हुई.

हर अच्छी यानि पठनीय पत्रिका की तरह आपकी कोशिश को उदय शंकर सिंह 'उदय' के एक दोहे में इस प्रकार कहा जा सकता है -

'अपना सूखा है गला, मगर न इसका भान,
हर प्यासे को तर करूं यही सदा अरमान.'

डॉ. सतीश दुबे

७६६, सुदामा नगर, इंदौर-४५२ ००९.

कई वर्षों से मैं "कथाबिंब" की पाठिका हूं. हर अंक का बेसब्री से इंतज़ार रहता है. अप्रैल-जून ०५ अंक हाथ में है; सारी सामग्री प्रभावित करती है. स्तरीय रचनाओं के चुनाव पर बधाई !

'बिके हुए हाथ,' 'मौत की छलांग,' 'स्वेटर' कहानियां बहुत अच्छी लगीं. 'खिड़कियां' भी पसंद आयी. लघुकथाएं भी अच्छी लगीं. कुल मिला कर अंक बहुत अच्छा है.

ऊषा मेहता 'दीपा'

प्रतीक्षा कुटीर, डुगली, चंबा (हि. प्र.)

(. . . पृष्ठ ४ से आगे)

कुछ कही, कुछ अनकही

जब स्पष्ट आंकड़े थे तो एक सप्ताह का समय क्यों ? यह समय क्या 'ख़रीद-फ़रोख़्त' को बढ़ावा नहीं देगा ! गोवा में राज्यपाल ज़मीर ने एक माह का समय दिया था और बिहार में सरदार बूटा सिंह एक दिन का समय देने को तैयार नहीं थे. इस संबंध में महज़ राज्यपाल का विवेक काफ़ी नहीं है. बहुमत सिद्ध करने के लिए कितना समय दिया जाना चाहिए, इस संबंध में स्पष्ट नीति बनाने की आवश्यकता है.

●

हमारे सीधे-सादे, ईमानदार छवि वाले प्रधानमंत्री से निरीह व्यक्ति शायद कोई नहीं है. वे जाने कबसे मंत्री-परिषद का विस्तार करना चाहते हैं पर बार-बार कुछ ऐसा हो जाता है कि विस्तार टल जाता है. १९८४ में हुए दंगों पर नानावटी आयोग की रपट आयी जिसमें जगदीश टाइटलर को नामज़द किया गया. बहुत न-नुकर करने के बाद टाइटलर जी इस्तीफ़ा देने को राज़ी हुए. इसी तरह तेल के बदले में खाद्य-सामग्री देने के मामले को लेकर वोल्कर रपट आयी. जिसमें विदेश मंत्री नटवर सिंह और कॉन्ग्रेस का नाम था. मनमोहन जी से पूछा गया कि क्या नटवर सिंह को हटना चाहिए तो उनका कहना था कि वे वरिष्ठ नेता हैं, चाहें तो हट जायें. नटवर सिंह ऐसे कहां मानने वाले थे - महीने भर तक 'नहीं,' 'नहीं' करते रहे. पर अंततः उन्हें भी मीडिया के दबाब के कारण हटना ही पड़ा. अभी यह मामला ठंडा नहीं पड़ा था कि बोफर्स के दलाल क्वात्रोची के बैंक के खातों को खोलने का मामला सामने आगया. विधि-मंत्री अलग बयान देते हैं, केंद्रीय खुफ़िया एजेन्सी अलग और प्रधानमंत्री अलग. उच्चतम न्यायालय ने जब तक फटकार लगायी, क्वात्रोची ने खातों में से पाई-पाई निकाल ली. वाह रे भारत सरकार !

●

छपते-छपते समाचार मिला है कि उच्चतम न्यायालय ने बूटा सिंह द्वारा फरवरी में बिहार विधान सभा को भंग करना असंवैधानिक बताया है और यह कहा है कि उन्होंने जल्दी में काम किया. किंतु राज्यपाल ने इस्तीफ़ा देने से इंकार कर दिया है.

अरविंद

: प्राप्ति-स्वीकार :

महाबिंदु (उपन्यास) : **पंकज प्रसून**, सिप्रा बुक्स, बी-३१, आनंद कॉम्प्लेक्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-११० ०९२ मू. ३५०/-
१२ प्रतिनिधि कहानियां (क. सं.) : **मिथिलेश्वर**, मेधा बुक्स, एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली-११० ०३२. मू. २५०/-
मोरी रंग दी चुनरिया (क.स.) : **मालती जोशी**, किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११० ००२ मू. १००/-
अथवा (क.स.) : **किसलय पंचोली**, रामकृष्ण प्रकाशन, चित्रांगदा कॉम्प्लेक्स, हॉस्पिटल रोड, विदिशा-४६४० ०१. मू. १०५/-
कालचक्र (क.सं.) : **राजवीर सिंह 'दार्शनिक'**, विकास पेपर बैक्स, IX २२१, मेन रोड, गांधीनगर, दिल्ली - ११० ०३१. मू. १२०/-
उठ गये हाथ चालीस लाख हाथ (कविता) : **पंकज प्रसून**, सिप्रा बुक्स, बी-३१, आनंद कॉम्प्लेक्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली - ११० ०९२. मू. १००/
नये घर में प्रवेश (क.सं) : **नरेश अग्रवाल**, प्रकाशन संस्थान, ४७१५/२१, दयानंद मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२. मू. १००/-
महानगर में प्रेम (क.सं.) : **वीरेंद्र गोयल**, पारुल प्रकाशन, ८८९/५८, त्रिनगर, दिल्ली-११० ०३५ मू. १२०/-
जश्ने इश्क़ (ग.सं.) : **सुरेंद्र कृष्णा**, ८८९/५८, त्रिनगर, दिल्ली-११० ०३६. मू. १००/-
इंदौर के ग्यारह कवि (क.सं.) : **सं. हरेराम बाजपेयी**, हिंदी परिवार इंदौर, १०५ इंदिरा गांधी नगर, केशरबाग रोड, इंदौर-४५२ ००९. मू. १२०/-
उल्लास (काव्य) : **सुधीर मोता**, किताब घर, २४/४८५५, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ मू. ६०/-
स्वप्न की नदी : सुबह की धूप (काव्य) : **रामेश्वर पांडेय 'पतंग'**, लेखनी प्रकाशन, ६/२ हारुन नगर, फुलवारी शरीफ, पटना-८०१५०५. मू. १२५/-
तू नदी है (काव्य) : **सुधीर कुशवाह**, रानी राजबाला प्रकाशन, ३१६ तानसेन नगर, ग्वालियर-४७४ ००३ मू. ४०/-

'किरण देवी सराफ ट्रस्ट' (मुंबई) के सौजन्य से प्रकाशित पुस्तकें

खोजती रही प्यार (उपन्यास) : **नीता कृपलानी**, मू. ५०/-, रिश्ता (उपन्यास) : **नीरज प्रकाशन**, मू. १०५/-,
कांटा लगा... (व्यंग्य) : **विनोद भास्कर**, मू. १००/-, लाफ़्टर क्लब (एकांकी) : **आशुतोष सिन्हा**, मू. १२५/-,
एक सज़ा है तेरा प्यार (गीत/ग़ज़ल) : **सुनील बड़ोला**, मू. १००/-, आब गीते (ग़ज़ल) : **मरयम ग़ज़ाला**, मू. १००/-,

'कथाबिंब कहानी पुरस्कार-२००५'

अभिमत पत्र

वर्ष २००५ के सभी अंकों में प्रकाशित कहानियों के शीर्षक, रचनाकारों के नाम के साथ नीचे दिये गये हैं. पाठक अपनी पसंद का क्रम (१,२,३,...७,८) सामने के खाने में लिखकर हमें भेजें. आप चाहें तो इस ***अभिमत पत्र*** का प्रयोग करें अथवा आठ कहानियों का क्रम अलग से **एक पोस्टकार्ड** पर भी लिख कर भेज सकते हैं. प्राप्त अभिमतों के आधार पर पिछले वर्षों की तरह ही ***सर्वश्रेष्ठ*** (१०१० रु.- एक), ***श्रेष्ठ*** (७५० रु. - दो) व ***उत्तम*** (५०० रु. के पांच) पुरस्कार घोषित किये जायेंगे. जिन पाठकों की भेजी क्रमवार सूची अंतिम सूची से मेल खायेगी उन्हें **'कथाबिंब'** की **त्रैवार्षिक सदस्यता (१२५ रू.)** प्रदान की जायेगी. **'कथाबिंब'** ही एकमात्र पत्रिका है जिसने इस तरह का लोकतांत्रिक आयोजन प्रारंभ किया हुआ है. इसकी सफलता इसी में है कि ज़्यादा से ज़्यादा पाठक अपना मत व्यक्त करें. पाठकों का सहयोग ही हमारा मुख्य संबल है.

कहानी शीर्षक / रचनाकार	आपका क्रम
१. **भारत पूअर सोसायटी** - *सिद्धेश*	
२. **हेलीकॉप्टर** - *तारिक असलम 'तस्नीम'*	
३. **कुछ तो बाकी है !** - *पूर्ण शर्मा 'पूरण'*	
४. **एलोरा** - *उषा राजे सक्सेना*	
५. **कोहरा** - *सलाम बिन रज़ाक*	
६. **ताले वाली डायरी** - *डॉ. निरुपमा राय*	
७. **चेहरे** - *पवन शर्मा*	
८. **आतंकवादी** - *जीवतराम सेतपाल*	
९. **बिके हुए हाथ** - *डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी 'शलभ'*	
१०. **मौत की छलांग** - *मनोज सिन्हा*	
११. **स्वेटर** - *विमल पांडेय*	
१२. **औरत सराय नहीं है** - *सलीम अख़्तर*	
१३. **आज की पांचाली** - *जयनारायण*	
१४. **सांप और बिच्छू की कथा** - *देवेंद्र सिंह*	
१५. **इतने पर भी !** - *प्रकाश कांत*	
१६. **मरब्बे** - *राजीव पत्थरिया*	
१७. **और बांध टूट गया** - *भगीरथ शुक्ल*	

हमारा लक्ष्य :
हमारी जनता के लिए
बेहतर जीवन-स्तर

विकिरण एवं आइसोटोप प्रौद्योगिकी बोर्ड

भारत सरकार, परमाणु ऊर्जा विभाग

बीएआरसी/ब्रिट वाशी कॉम्प्लेक्स, सेक्टर-20, एपीएमसी फल बाजार के सामने, वाशी, नवी मुंबई-400 705.
फेक्स क्रमांक : 022 2556 2161, 2558 1319, वैबसाइट : www.britatom.com, ई. मेल : sales@britatom.com.

आर. एन. आई. पंजीकरण संख्या : ३५७६४/७९

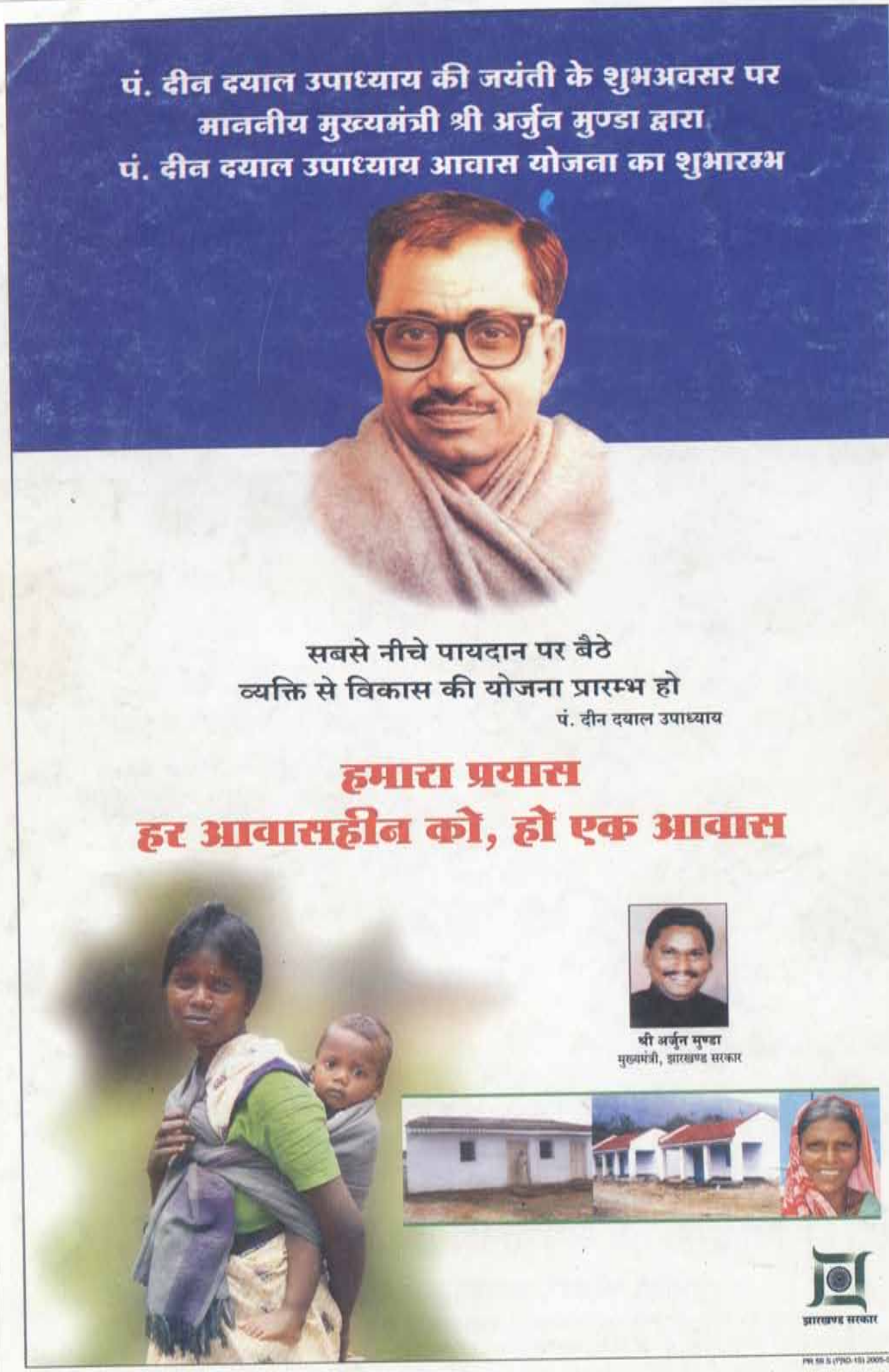

मंजुश्री द्वारा संपादित व **आर्ट होम**, शांताराम साळुंके मार्ग, घोड़पदेव, मुंबई - ४०० ०३३ में मुद्रित.
टाइप सेटर्स : **वन-अप प्रिंटर्स**, १२वां रास्ता, द्वारका कुंज, चेंबूर, मुंबई - ४०० ०७१. फो. : २५२१ ६२८४.